प्रथम
दिग्दर्शन
[भाग]

मध्यमा दिग्दर्शन

[गाइड]

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा संचालित मध्यमा (विशारद) परीक्षा के लिए निर्धारित सभी पुस्तकों का विशद् विवेचन व्याख्या एवं प्रश्नोत्तर सहित]

[नवीन पाठ्यक्रमानुसार]

पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्द्धित ग्यारहवाँ संस्करण

लेखक

डा० कृष्णदेव शर्मा, एम. ए., पी-एच. डी.

रामलाल आनन्द कॉलेज

नई दिल्ली—२१

विनोद पुस्तक मन्दिर

आगरा

पाठ्यक्रम एवं विषय-सूची

प्रश्नपत्र—१

ब्रजमाधुरीसार—(नन्ददास, रसखान, रत्नाकर, सत्यनारायण)
नन्ददास का अध्ययन गाइड मे एवं रसखान, रत्नाकर एवं सत्यनारायण का अध्ययन अनुपूरक मे से करें।

बरवै रामायण—इसका अध्ययन अनुपूरक में से करें।

सूर सुषमा—इसका अध्ययन गाइड मे से करें।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास एवं रस, छंद, अलंकार का अध्ययन गाइड मे से करें। कुछ प्रमुख छन्दों का अध्ययन अनुपूरक में से भी करें।

प्रश्नपत्र—२

आधुनिक काव्य कुंज—(अयोध्यासिंह उपाध्याय, जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, रामधारीसिंह दिनकर, अज्ञेय)
इन सभी कवियों का पूर्ण अध्ययन गाइड में से करे।

संजीवनी—श्री सोहनलाल द्विवेदी
'संजीवनी' का अध्ययन अनुपूरक में से करें।

प्रश्नपत्र—३

आधुनिक गद्य संग्रह—(भारतीय साहित्य की विशेषताएँ, धन और उसका उपयोग, साहित्य में आत्माभिव्यक्ति, आधुनिक नारी)
भारतीय साहित्य की विशेषताओं का अध्ययन गाइड में से एवं शेष का अध्ययन अनुपूरक में से करें।

राजर्षि टण्डन रचनावली—इसका अध्ययन गाइड में से करें।

आकाश कितना अनन्त है--गाइड में से अध्ययन करें।

कहानी कुंज—(वेणी, बूढ़ी काकी, निंदिया लागी, अपना-अपना भाग्य, दुख का अधिकार)
उक्त सभी कहानियों का अध्ययन गाइड में से करें।

ध्रुवस्वामिनी—इसका अध्ययन अनुपूरक में से करें।

एकांकी संग्रह—डा० मोहन अवस्थी
इसका अध्ययन अनुपूरक में से करें।

लेखक का वक्तव्य

●

१. 'मध्यमा दिग्दर्शन' (गाइड) का पूर्णतया नवीन संस्करण प्रस्तुत करते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है।

२. 'मध्यमा दिग्दर्शन' (गाइड) में मध्यमा (विशारद) के विद्यार्थियों के लाभार्थ जितनी भी अधिक से अधिक सामग्री आवश्यक है, उसका समावेश किया गया है। इसमें ऐसे प्रत्येक प्रश्न को सम्मिलित किया गया है जिसके परीक्षा में पूछे जाने की पूरी-पूरी सम्भावना है। हिन्दी के चारों प्रश्न-पत्रों की सभी पुस्तकों का अध्ययन प्रश्न और उत्तर में इतने सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है कि विद्यार्थी को इसके अतिरिक्त कहीं भी अन्यत्र भटकने की अथवा अन्य कोई सहायक पुस्तक लेने की आवश्यकता नहीं है।

३. मुख्यतः 'मध्यमा दिग्दर्शन' (गाइड) की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. हिन्दी विषय के चारों पत्रों और सभी पुस्तकों का विस्तृत अध्ययन;
२. परीक्षा-सम्बन्धी आवश्यक सामग्री का समावेश;
३. अत्यावश्यक गद्य-पद्य स्थलों की व्याख्या;
४. प्रत्येक प्रश्न का सुस्पष्ट उत्तर;
५. विषय-प्रतिपादन में मौलिक दृष्टिकोण;
६. विवेचन की वैज्ञानिक पद्धति;
७. सरल एवं प्रवाहपूर्ण भाषा-शैली;
८. गाइड के अन्त में परीक्षा में आए हुए प्रश्न-पत्रों का समावेश;
९. प्रश्न-पत्र तैयार करने की सरलतम विधि।

४. जिन अध्यापकों, लेखकों और विद्वानों ने प्रस्तुत दिग्दर्शन (गाइड) की तैयारी करने में सहायता पहुँचाई है, लेखक उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करता है।

५. हमें पूरा विश्वास है कि इन विभिन्न विशेषताओं और सारपूर्ण व सर्वाधिक उपयोगी सामग्री से सम्पन्न इस दिग्दर्शन (गाइड) की सहायता से मध्यमा (विशारद) के विद्यार्थी प्रथम श्रेणी के समकक्ष अंक लेकर उत्तीर्ण हो सकेंगे।

—लेखक

प्रश्न-पत्र तैयार करने की सरलतम विधि

प्रथम प्रश्न-पत्र

यह प्रश्न-पत्र चार भागों में विभाजित होगा : (क) व्याख्या—४० अंक; (ख) सम्बन्धित साहित्य का इतिहास—२० अंक; (ग) आलोचनात्मक प्रश्न—२० अंक; और (घ) रस तथा अलंकार—२० अंक।

व्याख्या वाले प्रश्न में विकल्प पर्याप्त रहता है। इसलिए छात्रों को पर्याप्त सुविधा रहती है। व्याख्या अवतरण में तीन अनुच्छेद लिखना चाहिए। प्रथम अनुच्छेद के प्रसंग में कवि अथवा ग्रन्थ का उल्लेख करना चाहिए। यदि अवतरण किसी प्रबन्ध-रचना से है, तब तो उस अवतरण का सूक्ष्म निर्देश करना चाहिए जहाँ से उद्धरण लिया गया है। यदि संवाद है, तो लिखना चाहिए कि कौन, किससे, किस अवसर पर कह रहा है, पर यदि अवतरण मुक्तक रचना से है तो उसके भाव को दृष्टि में रखकर विचारों की ही विवेचना हो जो सार रूप में दी जानी चाहिए।

द्वितीय अनुच्छेद व्याख्या का होना चाहिए। उससे व्याख्या तो पूर्ण हो जानी चाहिए, पर शब्दार्थ पर अधिक ध्यान न रखकर विचारों की विवेचना विस्तार से हो। व्याख्या ठीक ही हो; उसमें विषयान्तर नहीं होना चाहिए।

तृतीय अनुच्छेद 'विशेष' में अवतरण की विचारधारा तथा शैली की आलोचना होनी चाहिए। यदि अवतरण कवि की किसी विशेष प्रवृत्ति, सिद्धान्त या प्रसंग से सम्बन्धित हो तो उसका सूक्ष्म परिचय भी दे देना चाहिए। शैली में भावपक्ष और कलापक्ष के गुण बताने चाहिए।

आलोचनात्मक प्रश्नों में प्राचीन कवियों से सम्बन्धित दो प्रश्न पूछे जाएँगे वैसे प्रश्नों का अनुपात परीक्षक की इच्छा पर निर्भर है। वह घटा-बढ़ा भी सकता है। आलोचनात्मक प्रश्नों पर भी बहुत कुछ निर्भर होता है। इसके लिए २० अंक निर्धारित हैं। विद्यार्थियों को चाहिए कि दिग्दर्शन में दिए गए प्रश्नोत्तरों को भली-भाँति हृदयंगम कर लें।

सम्बन्धित साहित्य का इतिहास—भक्तिकाल और रीतिकाल—से भी एक

या दो प्रश्न पूछे जाएँगे। ये प्रश्न काल और शाखा—विशेष की प्रवृत्तियों से सम्बन्धित होंगे।

रस, छन्द और अलंकार से सम्बन्धित प्रश्न दो प्रकार के होते हैं—

(क) प्रश्न-पत्र में पूछे गए प्रश्नों में से ही कुछ में छन्द, रस या अलंकार पूछ लेना।

(ख) एक प्रश्न देकर उसके तीन भाग क्रमशः अ, आ, इ होंगे। एक में कुछ छन्दों के नाम देकर लक्षण और उदाहरण पूछे गए होंगे। दूसरे में अलंकार गिनाए गए होंगे जिनसे कि लक्षण और उदाहरण देने होते हैं। तीसरे में रस-सम्बन्धी कुछ तत्वों पर टिप्पणियाँ लिखवाई जाती हैं। कभी-कभी लक्षण-उदाहरण न देकर छन्दों या अलंकारों की उपयोगिता पूछ ली जाती है। परीक्षार्थियों को चाहिए कि छन्द सम्बन्धी परिभाषाएँ भली प्रकार कण्ठ कर लें और गण लगाने से अच्छे अंक मिल जाते हैं। अलंकारों में प्रायः विकल्प होता है। अतः परीक्षार्थी को यथासम्भव भेदों वाले बड़े अलंकारों से बचना चाहिए। यदि ऐसा अलंकार लिखना पड़े तो प्रत्येक भेद का परिचय अवश्य दे देना चाहिए। ध्यान रहे कि यह प्रश्न अनिवार्य रूप से करना होता है।

द्वितीय प्रश्न-पत्र

यह प्रश्न-पत्र तीन भागों में विभाजित होगा—(१) व्याख्यात्मक—४० अंक; (२) आलोचनात्मक—४० अंक; और (३) सम्बन्धित साहित्य का इतिहास—२० अंक।

अवतरणों की व्याख्या, आलोचनात्मक प्रश्नों और सम्बन्धित साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए प्रथम प्रश्न-पत्र का अनुसरण करना चाहिए। हाँ, साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत आधुनिक काव्य के विकास के विभिन्न चरणों को—भारतेन्दु युगीन कविता, द्विवेदी युगीन कविता, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद—पढ़ना चाहिए।

तृतीय प्रश्न-पत्र

यह प्रश्न-पत्र तीन भागों में विभाजित होता है : (१) व्याख्यात्मक प्रश्न, (२) आलोचनात्मक प्रश्न, और (३) साहित्य-आलोचना सम्बन्धी प्रश्न।

व्याख्या ४० अंकों की, आलोचनात्मक प्रश्न ४० अंकों के और आलोचना सिद्धान्त पर २० अंकों के प्रश्न पूछे जाते हैं।

व्याख्येय गद्य में कम से कम पाँच अवतरण दिए जाते हैं, जिनमें से तीन अवतरणों को स्पष्ट करना होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए केवल सरलार्थ देना काफी नहीं होता। पहले प्रसंग लिखना चाहिए कि यह अवतरण किस पुस्तक से उद्धृत किया गया है। इसके पश्चात् उस लेख का नाम देना चाहिए जिससे अवतरण लिया गया है। लेख में लेखक का नाम प्रसंग के अन्तर्गत देना आवश्यक है। पुनः प्रस्तुत अवतरण से उनका सम्बन्ध-सूत्र जोड़ना चाहिए। किसी की उक्ति हो तो अवसर, वक्ता और श्रोता का यथास्थान निर्देश करके तब अवतरण में निहित आशय को स्पष्ट करना चाहिए।

आलोचनात्मक प्रश्न दो प्रकार के होते है—(१) पाठ्य-पुस्तक सम्बन्धी, और (२) लेखक सम्बन्धी। किसी उपन्यासकार या नाटककार के साहित्यिक महत्त्व, उसकी विचारधारा या विशेषता को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम में निर्धारित किसी उपन्यास या नाटक या कहानी पर प्रश्न पूछा जाता है। उपन्यास या कहानी के पात्रों का चरित्र-चित्रण भी पूछा जाता है। दूसरे प्रकार के प्रश्न लेखक की शैली, भाषा और व्यक्तिगत विशेषताओं सम्बन्धी होते हैं।

भाषा-शैली प्रायः प्रत्येक लेखक की आवश्यक है। भाषा-शैली का निरूपण करते समय शब्द, मुहावरे आदि के उद्धरण देने चाहिए। शैली लिखते समय, शब्द, वाक्य, मुहावरे शैली के विशेष गुण आदि के लिए पृथक्-पृथक् अनुच्छेद रखना चाहिए।

चरित्र-चित्रण करने में कहानी नहीं लिखनी चाहिए। पात्र के विभिन्न गुणों के अलग-अलग अनुच्छेद कर लेने चाहिए। प्रत्येक अनुच्छेद में कहानी से उदाहरण ले-लेकर गुण का समर्थन करना चाहिए। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि की विशेषताएँ लिखकर उन्हीं की क्रमशः पुष्टि अनुच्छेदों में करनी उचित होगी। संक्षेप में, पहले सिद्धान्त-निरूपण और फिर उसकी पुष्टि आवश्यक है। इस दृष्टि से प्रश्न का विस्तार भी हो जाता है और आवश्यक कलेवर भी नहीं बढ़ता। इस प्रश्न-पत्र में विद्यार्थी को आत्म-विश्वास बनाए रखना बहुत आवश्यक है। उत्तर-विधि ही यदि ठीक होगी तो भी अधिक अंक प्राप्त किए जा सकते है।

आलोचना सम्बन्धी प्रश्नों का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। गद्य-साहित्य के सम्पूर्ण अंगों; यथा—नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबन्ध आदि

पर आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जायेंगे। उपन्यास के तत्व, कहानी और उपन्यास में अन्तर, नाटक के सिद्धान्त, एकांकी की विशेषताएँ आदि विषयों पर प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रस्तुत दिग्दर्शन (गाइड) में तत्सम्बन्धी सभी आवश्यक प्रश्नों का उत्तर सहित समावेश किया गया है, परीक्षार्थी को उन्हें भली-भांति समझ कर स्मरण कर लेना चाहिए।

चतुर्थ प्रश्न-पत्र

इस पत्र के चार भाग होते हैं—(१) हिन्दी-भाषा, देवनागरी लिपि और अंकों का विकास, (२) निबन्ध, (३) संक्षेपण-पल्लवन, और (४) संस्कृत।

हिन्दी भाषा के विकास और उत्पत्ति सम्बन्धी तथा व्रजभाषा, राजस्थानी, वांगरू आदि पर कभी-कभी टिप्पणियां लिखने को भी कहा जाता है। नागरी अंक और अक्षर पर तो अनिवार्य रूप से प्रश्न पूछा जाता है। परीक्षार्थी को परामर्श है कि वह गाइड में दिए गए सभी प्रश्नों को कण्ठस्थ कर ले।

मध्यमा का निबन्ध, निबन्ध-कला का आदर्श होना चाहिए। इसमें विषय और शैली—दोनों की ही अपेक्षा होती है। निबन्ध ही छात्र की प्रतिभा और योग्यता की कसौटी है। यदि निबन्ध अच्छा है तो उसके द्वारा यह पता लगता है कि अमुक छात्र का ज्ञान भी पूर्ण है। अतः यह परमावश्यक है कि छात्र निबन्ध को बहुत सम्भाल कर लिखे। निबन्ध लिखने से पूर्व प्रथम पृष्ठ पर विचार करने को विषय का वर्गीकरण कर लेना चाहिए और निबन्ध की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार अथवा अधोलिखित रूप में तैयार कर लेनी चाहिये :—

(क) भूमिका, (ख) विषय का विवेचन, (ग) विषय के सम्बन्ध में उद्धरण और उदाहरण, (घ) विषय की आलोचना, और (ङ) उपसंहार।

भूमिका और उपसंहार को छोड़कर औरों में आवश्यकतानुसार कई अनुच्छेद हो सकते हैं। भूमिका में विषय की व्याख्या न होकर, महत्त्व का निर्देश होना चाहिए। तर्क और भावुकता के मणि-कांचन-संयोग से भूमिका को आकर्षण बनाना चाहिए। भूमिका अनुच्छेद के अन्तिम वाक्य में ही विषय का संकेत और उल्लेख होना चाहिए। वाक्यावली परस्पर सम्बद्ध हो। निबन्ध का प्रथम वाक्य सबसे अधिक जोरदार होना चाहिए। उपसंहार वाला अनुच्छेद निबन्ध को पूर्णतया प्रदान करता है। उपसंहार के प्रथम वाक्य से ही पाठक को यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि निबन्ध समाप्ति की ओर बढ़ रहा है।

सबसे सरल ढंग तो यह है कि सम्पूर्ण निबन्ध का सार ही उपसंहार के रूप में दे देना चाहिए। मध्य भाग के कई अनुच्छेदों में पूर्ण विवेचन होना चाहिए। विवेचन सतर्क और सोदाहरण होना चाहिए। निबन्ध का कलेवर ५-६ पृष्ठों से बड़ा नहीं होना चाहिए।

अपठित अथवा संक्षेपण में किसी बिना पढ़े हिन्दी-गद्य अथवा पद्य-खण्ड का हिन्दी में ही सारांश करना होता है। इस सारांश में विद्यार्थियों को अपनी भाषा का प्रयोग करना चाहिए और सारांश मूल गद्य खण्ड का लगभग एक-तिहाई होना चाहिए। सारांश में वाक्य छोटे-छोटे होने चाहिए और उनमें मूल गद्य अथवा पद्य खण्ड का सम्पूर्ण भाव समाविष्ट होना चाहिए।

सम्प्रेक्षण अथवा पल्लवन का अर्थ—विस्तार अथवा विकास है। इसमें दिए गए गद्य अथवा पद्य-खण्ड में निहित भावों को स्पष्ट करना होता है। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि यह दिए गए अवतरण का एक-तिहाई ही होना चाहिए। इसमें भाव का स्पष्टीकरण आवश्यक है। उसके लिए यदि विस्तार की अपेक्षा है, तो उसे विस्तार दे दिया जाय। यह एक प्रकार से व्याख्या के समीप आ जाता है। भाव स्पष्टीकरण करते समय भाषा-शैली की ओर भी ध्यान रखा जाए। ऐसी भाषा और शैली का प्रयोग हो कि रचना आकर्षक और रोचक भी लगे तथा लेखक का मन्तव्य भी पूर्णतः स्पष्ट हो जाए।

अन्त में सामान्य रूप से प्रश्नों का उत्तर लिखने के सम्बन्ध में दो बातें कहनी आवश्यक हैं—पहली बात तो यह है कि किसी भी प्रकार की वर्तनी (Spelling) या वाक्य-रचना की अशुद्धियाँ नहीं होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि उत्तर ठीक-ठीक प्रश्न के अनुसार ही होना चाहिए। यदि विद्यार्थी इन बातों पर ध्यान देंगे तो उन्हें परीक्षा में निश्चित रूप से प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त हो सकते हैं।

विषय-सूची

प्रथम प्रश्न-पत्र

द्वितीय प्रश्न-पत्र

तृतीय प्रश्न-पत्र

चतुर्थ प्रश्न-पत्र

१. हिन्दी भाषा, देवनागरी लिपि और अंक

२. निबन्ध

३. सार-लेखन अथवा संक्षेपण

४. संप्रेषण एवं पल्लवन

५. संस्कृत (वाणी-विलास भाग—२)

वैकल्पिक विषय

संस्कृत

(अ) मध्यम व्यायोग

(ब) श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (एकादश अध्याय)

(स) रघुवंशम् (द्वितीय सर्ग)

गत वर्षों के प्रश्न-पत्र (१९८०—१९८२)

प्रथम प्रश्न पत्र

1. ब्रज माधुरी सार
2. कवितावली
3. सूर सुषमा
4. रस अलंकार पिंगल
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास

ब्रजमाधुरी सार

प्रश्न १—कविवर घनानन्द का जीवन-परिचय देते हुए उनकी काव्यकला का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

जीवन-परिचय—घनानन्द साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा-काव्य के प्रधान स्तम्भों में हैं। इनका जन्म संवत १७४६ के लगभग हुआ तथा संवत् १७९६ वह नादिरशाही में मारे गऐ। वे जाति के कायस्थ थे और दिल्ली के मीरमुंशी थे। कहते हैं एक बार दरबार में कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीरमुंशी साहब बहुत अच्छा गाते हैं। इन्होंने बादशाह से बहुत टालमटोल की, पर लोगों ने कहा, यदि इनकी प्रेमिका सुजान कहे तब गाएँगे। सुजान को बुलाया गया। इन्होंने उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ करके बड़ी ही तन्मयता से गाया। सब लोग मुग्ध हो गए, किन्तु बादशाह इनकी बेअदबी पर क्रुद्ध हुआ और शहर से निकल जाने की आज्ञा दी। इन्होंने सुजान से भी साथ चलने की प्रार्थना की किन्तु वह नहीं गई। इस पर इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। ये वृन्दावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए।

रचनाएँ—इनके द्वारा रचित ग्रंथ इस प्रकार हैं--सुजान सागर, विरहलीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकन्द। इनके अतिरिक्त इनके कवित्त-सवैयों के फुटकल संग्रह में डेढ़ सौ से लेकर सवा चार सौ कवित्त तक मिलते हैं। कृष्ण भक्ति सम्बन्धी इनका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ छतरपुर के राज-पुस्तकालय में है जिसमें प्रिया प्रसाद, ब्रजव्यवहार वियोगवेली, कृपाकन्द निवन्ध, गिरिगाथा, *भावनाप्रकाश, गोकुलविनोद, धामचमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाम-माधुरी, वृन्दावन-मुद्रा*, प्रेमपत्रिका, रसवसंत इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं। इनकी विरह लीला फारसी छन्द में ब्रजभाषा में लिखी गई है।

काव्य-कला—घनानन्द जैसी विशुद्ध, सरस और शक्तिशाली भाषा लिखने में अन्य कोई कवि शायद ही समर्थ हुआ हो। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता एवं माधुर्य का भी इनकी भाषा में अपूर्व समन्वय है। विप्रलम्भ शृंगार हीं इनको प्रिय है। ये प्रेम की पीर के कवि हैं। इन्होंने अपनी कविताओं में बराबर 'सुजान' को सम्बोधित किया है जो शृंगार में नायक के लिए तथा भक्तिभाव

में कृष्णा भगवान् के लिए प्रयुक्त माना जाना चाहिए। यद्यपि ये विरक्त भाव से वृन्दावन जाकर रहे तो भी इनकी अधिकांश कविता शृंगारिक ही हैं। लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवद्-भक्ति में लीन हुए।

प्रेम दशा की व्यंजना ही इनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का उद्घाटन जैसा इन्होंने किया है, वह हिन्दी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। प्रेम की अनिर्वचनीयता का आभास घनानन्द ने विरोधाभासों के द्वारा दिया है। उनके विरोधमूलक वैचित्र्य की प्रवृत्ति का यही कारण है। संयोग और वियोग शृंगार में इनकी दृष्टि वियोग की अन्तर्दशाओं पर ही अधिक रमी है। अतःइनके वियोग सम्बन्धी पद ही साहित्य में विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका वियोग-वर्णन भी आंतरिक अनुभूति से परिव्याप्त है, उसमें बाह्य प्रतिक्रिया कुछ नहीं।

उनकी भाषा उनके विचारों और आन्तरिक अनुभूति का भार वहन करने में पूर्णतः समर्थ है, इससे उनका ब्रजभाषा पर अचूक अधिकार लक्षित होता है।"भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से नई शक्ति प्रदान की है।"

घनानन्द की कविता में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों समान रूप से परि-पुष्ट हैं। भाषा के सौष्ठव के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। उन्होंने अपने काव्य में वस्तु-वर्णन को अधिक महत्त्व न देकर भावव्यंजना को ही प्रधानता प्रदान की है। उनकी दृष्टि नायिका के पार्थिव शरीर पर नहीं टिकी, अपितु उन्होंने नायिका के हृदय को परखने का सफल प्रयास किया है। शृंगार रस में नायिका के हृदय की विविध दशाओं के चित्रण में उन्हें अधिक सफलता मिली है। घनानन्द का प्रेम-मार्ग बिलकुल सीधा और सरल है, उसमें किसी प्रकार का छल-कपट या चातुर्य नहीं है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँची चलें तजि आनुन पौ झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं॥

घनानन्द के प्रेम-मार्ग के समान इनकी काव्य-शैली भी नैसर्गिक सौंदर्य, को लिए हुए है; उसमें रीतिकालीन अन्य कवियों की सी रचना-चातुरी या वचन-वक्रता का अभाव है। सरस, शुद्ध और समर्थ भाषा में हृदय की अनुभूतियों को स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त करना ही इनका ध्येय है। एक उदाहरण देखिए—

तब तौ छवि पीवत जीवत हैं, अब सोचत लोचन जात भरे।
हित पोप के तोप सु प्रान पले, बिललात महादुख-दोप भरे।

घन आनन्द मीत सुजान विना, सव ही सुख साज समाज टरे।
तव हार पहार से लागत हे, अव आनि के वीच पहार परे॥

घनानन्द जितने सवैया-छन्द में सफल हुए उतने और छन्दों में नहीं; भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनकी कविता को वहुत पसन्द करते थे। वे कभी-कभी तो इनका अनुसरण करके सवैया तक की रचना करते थे। 'शिवसिंह सरोज' में इनकी कविता 'सूर्य के समान भासमान है' लिखा है।

वावू अमीरसिंह ने अपने हरिप्रकाश प्रेस से स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की सहायता से 'सुजान-सागर' नाम का ४८३ छन्दों का एक काव्य-संग्रह प्रकाशित किया था। रत्नाकरजी भी उनकी कविता पर अत्यन्त मुग्ध थे। उनका विचार था कि घनानन्द के काव्य का एक सर्वाङ्ग सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया जाए।

घनानन्द का जीवन-वृत्त पूर्णतया प्रकाश में नहीं आया है। इनके साहित्य का भी अभी पूर्ण अनुसंधान नहीं हुआ। अभी तक जो कुछ भी मालूम हो सका है उसका सार ऊपर दे दिया गया है। अन्त में, हम यही कहेंगे कि इन्होंने अपने समय की परिस्थितियों से विद्रोह किया। काव्य की प्रचलित परिपाटी से स्वछन्द होकर काव्य-सृजन किया। रीतिकालीन कविता में वँधी हुई लीक से स्वतन्त्र होकर तथा अपने समय की प्रचलित काव्य परम्पराओं से मुक्त होकर घनानन्द ने हृदय के सच्चे उद्‌गारों को ही अपनी कविता में व्यक्त किया। रीतिकालीन वँधी हुई परिपाटी का अनुसरण न करते हुए प्रेम-सम्बन्धी मनोहर रचना करने वाले कवियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रश्न २—कविवर विहारी के जीवन चरित पर प्रकाश डालते हुए विहारी सतसई में संकलित दोहों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर—महाकवि विहारी का जन्म संवत् १६६० मे ग्वालियर के समीप वसुआ गोविन्दपुर में हुआ था। आप मथुरा के चौवे थे। इनकी वाल्यावस्था अधिकतर वुन्देलखण्ड में वीती। तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल चले आए। श्री राधाकृष्णदास ने इन्हें कविवर केशवदास का पुत्र स्वीकार किया है किन्तु सतसई में कुछ वुन्देलखण्डी शब्दों के प्रयोग से तथा 'केशवकेशवराय' से यह वात सिद्ध नहीं होती। मथुरा से ये तत्कालीन जयपुर नरेश महाराजा जयसिंह के पास चले आए। वहाँ इन्होंने महाराज के प्रमोद के लिए सतसई की रचना की। अनुमानतः आप संवत् १७२० तक जीवित रहे।

विहारी स्वतंत्र स्वभाव के कवि थे। राजा-महाराजाओं को प्रसन्न करना ही इनका एकमात्र ध्येय नहीं था। कहते हैं कि जिस समय ये जयपुर पहुँचे तो उस समय महाराजा अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने लीन थे कि राज-काज की उन्हें सुध न थी। उन तक जाने की किसी की आज्ञा नहीं थी। सामन्तों की सलाह से विहारी ने निम्न दोहा लिखकर किसी प्रकार महाराज के पास भीतर भिजवाया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली, कली ही सौं बंध्यो, आगे कौन हवाल ।

इस दोहे को पढ़कर महाराज वाहर निकले। तभी से विहारी का सम्मान होने लगा। महाराज ने इसी प्रकार के दोहे रचने की आज्ञा दी तथा प्रति दोहा एक अशरफी देने का वचन दिया। इस प्रकार सात सौ तेरह दोहे रचे गए जो सतसई में संकलित हैं। इनके द्वारा रचित यही एक रचना उपलब्ध हुई है।

शृंगार रस के दोहों में बिहारी सतसई को जितना आदर मिला है उतना अन्य किसी ग्रन्थ को नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक रत्न माना जाता है। इसकी कई टीकाएँ रची गयीं जिनमें चार-पाँच अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार विहारी सम्बन्धी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। विहारी सतसई की एक प्रामाणिक टीका ब्रजभाषा के अन्यतम कवि स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'विहारी-रत्नाकर' के नाम से निकाली है जो साहित्य-जिज्ञासुओं की प्रत्येक समस्या का समाधान करती है तथा विश्वविद्यालयों की उच्चतम परीक्षाओं में पाठ्यक्रम में निर्धारित की गई है। जितना श्रम इस ग्रन्थ के संपादन में व्यय हुआ है उतना आज तक हिन्दी के किसी और अन्य ग्रन्थ पर नहीं हुआ।

काव्य-कला—विहारी ने सतसई के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। यही ग्रन्थ उनकी स्थायी कीर्ति का आधार है। इसी से यही परिणाम निकलता है कि किसी कवि का यश साहित्य के परिमाण के आधार पर नहीं होता, उसके गुण पर निर्भर करता है। मुक्तक कविता में जो गुण होने चाहिए वे विहारी के दोहों में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। मुक्तक में कथा-प्रसंग पर आधारित रस-धारा के लिए स्थान नहीं, इसमें तो कवि एक प्रभाव थोड़े से

शब्दों में उत्पन्न करता है जिससे पाठक या श्रोता की हृदय-कलिका खिल उठती है और वह वाह ! वाह ! कहने लगता है। इसमें कोई रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सामने प्रस्तुत कर दिया जाता है कि पाठक कुछ क्षणों के लिए मंत्र-मुग्ध-सा हो जाता है। अतः इसके लिए कवि में कल्पना की समाहार शक्ति तथा भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक रचना में सफल होगा। यह गुण विहारी में पूर्णरूप से विद्यमान थे तभी तो वह अपने दोहों में इतनी सरसता भर सके। इनकी सतसई के विषय में किसी ने ठीक ही कहा है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

विहारी सतसई में भाव-व्यंजना, रस-व्यंजना तया वस्तु-व्यंजना सभी को उचित स्थान मिला है। इसकी वस्तु-व्यंजना कहीं-कहीं तो औचित्य की सीमा का उल्लंघन करती दिखाई देती है—

पत्रा ही तिथि पाइए, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पूनौ ही रहै, आनन ओप उजास॥

विहारी की रस-व्यंजना में अनेक स्थलों पर इनकी योजना की निपुणता और उक्ति वैचित्र्य के दर्शन होते हैं, पर इस विधान में भी इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। एक-उदाहरण देखिए :

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करैं, भौंहें हँसैं, देन कहैं नटि जाय॥

अलंकारों की योजना में भी इन्हें अपूर्व सफलता मिली है। एक-एक दोहे में कितने ही अलंकार हैं किन्तु कहीं भी भद्दापन नहीं आने पाया है। कुछ उदाहरण लीजिए :

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूढ़ बूड़ें, तिरे जे बूड़े सब अंग॥
(विरोधाभास)

फिरि फिरि चितु उतही रहतु टूटी लाज की लाव।
अंग अंग छवि झौर में भयो भौंर की नाव॥
(रूपक)

झीने पट मैं झुलमुली झलकती ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु मैं लसति सपल्लव डार॥

(उत्प्रेक्षा)

लग्यो सुमनु ह्वै है सफलु, आतप रोसु निवारि।
वारी वारी अपनी सीचि सुहृदता-वारि॥

(श्लेष)

विहारी ने शुद्ध काव्य के अतिरिक्त कुछ सूक्तियाँ भी कहीं हैं जिनमें कई नीति-सम्बन्धिनी हैं। दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :

यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि सगुनौ दीपक-देह।
तऊ प्रकास करै तितौ भरिए जितौ सनेह॥
कनक तनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वा खाय बौराय जग या पाय बौराय॥

विहारी के अधिकांश दोहे 'आर्या सप्तशशी' तथा 'गाथा सप्तसती' पर आधारित हैं किन्तु कहीं-कहीं विहारी ने गृहीत भावों को अपनी प्रतिभा के बल से एक स्वतन्त्र और सुन्दर रूप ही दिया है।

भाषा—विहारी की भाषा चलताऊ होने पर भी साहित्यिक है। इनकी वाक्य-रचना व्यवस्थित है। शब्दों के रूप एक निश्चित प्रणाली पर हैं। विहारी ने भाषा का कहीं पर भी अंग-भंग नहीं किया। कवि जो कुछ कहना चाहता है, जो शब्द-चित्र पाठकों के सामने प्रस्तुत करना चाहता है उसके लिए उसकी भाषा पूर्णतः समर्थ है। पाठक न अपनी ओर से कुछ जोड़ना पड़ता है और न ही कुछ अनुमान करना पड़ता है। चित्र अपने आप ही प्रस्तुत हो जाता है। देखिए कुछ उदाहरण—

हेरि हिंडोरै गगन तैं परी परी सी टूटि।
धरी धाई पिय बीच हीं, करी खरी रस लूटि॥

इन सब विशेषताओं के कारण विहारी सतसई रसिक-जनों के गले का हार बनी हुई है। श्री राधाचरण गोस्वामी ने तो विहारी को 'पीयूष वर्ष मेघ' की उपमा दी है। क्या रस-व्यंजना, क्या भाव-व्यंजना, क्या वस्तु-व्यंजना सभी दृष्टियों से विहारी-सतसई एक उत्कृष्ट रचना ठहरती है। मुक्तक रचना का यह एक सफल उदाहरण है। सतसई साहित्य में विहारी-सतसई को सर्वश्रेष्ठ पद पर आसीन किया गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि से विहारी की कृति का मूल्य अधिकतर रचना की वारीकी अथवा काव्यांगों के सूक्ष्म-विन्यास की निपुणता के कारण ही आंका गया है। विहारी का भावपक्ष इतना सवल नहीं हैं। उनके अनुसार यदि मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव, पद्माकर तथा घनानन्द के सवैये अधिक सफल कहे जायेंगे। विहारी का काव्य हृदय में किसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वर धारा कुछ काल तक गूंजती रहे। उनकी कविता अस्थायी रस धारा तो बहाने में सफल है किन्तु चिर स्थायी प्रभाव उत्पन्न नहीं करती। विहारी में भावों का उत्कृष्ट स्वरूप और उदात्तता दृष्टि-गोचर नहीं होती। "कविता उनकी श्रृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि तक नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।"

व्याख्या भाग

(१)

पहिलै अपनाय सुजान सनेह सौ, क्यों फिरि नेह को तोरिए जू।
निरधार अधार दै धार मँझार, दई गहि वाँह न वोरिए जू॥
'घनआनन्द' आपने चातक को गुन वाँधिकै मोह न छोरिए जू।
रस प्याय कै ज्याय वढ़ायकै आस, विसास में यों विष घोरिए जू॥

प्रसंग—प्रस्तुत सवैया घनानन्द द्वारा रचित है। इसके दो अर्थ निकलते हैं। श्रृंगार पक्ष में कवि अपनी प्रेमिका सुजान को सम्वोधित कर रहा है कि वह एक वार अपनाकर अव उसका त्याग न करे। भक्तिपक्ष में वह भगवान से प्रार्थना कर रहा है कि एक वार उसका उद्धार किया है तो अव उसे भवसागर में न भटकने दें।

व्याख्या—हे प्रभो! आपने पहले मुझे स्नेह से अपनाया था, अव उस प्रेम के नाते को न तोड़िए। मैं विना सहारे का था। आपने मुझे सहारा दिया, मेरा उद्धार किया, अव मेरी पकड़ी वाँह को मँझधार में छोड़कर मुझे वेसहारा न कीजिए। घनानन्द कहते हैं कि मैं आपके प्रेम का चातक हूँ, अपने गुणों में वाँधकर अव मेरा त्याग न कीजिए। आपने अपना प्रेमरस पिलाकर मुझे जीवित रखा है। इससे मेरी अव आशा वहुत वढ़ गई है, अव मुझे भुलाकर मेरे विश्वास में जहर न घोलिए।

विशेष—(१) कवि की भगवान् से प्रार्थना है कि उन्होंने उसे अपनाकर आनन्द प्रदान किया है, अव उसके विश्वास को ठेस न पहुँचाएँ।

(२) अलंकार—श्लेष।

(२)

रसिक रंगीले भली भाँतिन छबीले,
'घनआनन्द' रसीले भरे महासुखसार हैं।
कृपा-घन-धाम स्यामसुन्दर सुजान, मोद—
मूरति सनेही विना बूझैं रिझवार हैं॥
चाह-आलवाल और अवाँह के कलपतरु,
कीरति-मयंक, प्रेम सागर अपार हैं।
नित हित संगी मनमोहन त्रिभंगी मेरे,
प्राननि-अधार नंदनंदन उदार हैं॥

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त घनानन्द द्वारा रचित है। कवि इस कवित्त में भगवान् श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का मनोहारी रूप में वर्णन कर रहा है—

व्याख्या—घनानन्द कहते हैं कि हे कृष्ण ! तुम रसिक, रंगीले, भली-भाँति छबीले तथा सुख के भण्डार हो। तुम कृपा के भण्डार हो, आनन्द की साक्षात् 'मूरति' हो, तुम परम सनेही हो तथा कहे रीझने वाले अर्थात् निःस्वार्थ प्रसन्न हो जाने वाले हो। तुम सब बालकों की इच्छा हो एवं अनाथ के लिए कल्पतरु के समान उसकी सभी मनोकामनाएँ पूरी करने वाले हो। तुम चन्द्रमा का यश हो, विशाल प्रेम के सागर हो। तुम मेरे हितैषी हो, तुम्हारी त्रिभंगी मुद्रा मेरी साथिन है। हे नंदनंदन श्रीकृष्ण ? आप कृपालु हैं और मेरे प्राणों के आधार हैं।

विशेष—(१) कवि ने प्रस्तुत पद में भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन किया है।

(२) भाषा प्रवाहपूर्ण और भावानुकूल है।

(३)

सुरत कीजै, विसारे क्यों बनैगी। विरहिनी यों अवधि कब लौं गिनैगी॥
किए की लाज है ब्रजनाथ प्यारे। विराजो सीस पै जग के उज्यारे॥
सदा मुख है हमें तुम साथी आछैं। लगी डोलैं छबीले, छाँह पाछैं॥
तुम्हें देखैं, तुम्हें भेटैं, भले ही। जमें सोवैं उठैं बैठैं चले ही॥

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ घनानन्द द्वारा रचित 'विरह-लीला' से अवतरित

हैं। गोपियाँ भगवान् कृष्ण के विरह में आकुल-व्याकुल हैं और उनसे प्रार्थना कर रही हैं कि वह उनकी सुधि लें।

व्याख्या—हमें भुलाने से कैसे बनेगी ! हे प्रियतम, हमारी सुधि लीजिए। हमारे लिए तो विरह के कारण अवधि गिनना तथा मिलन की घड़ी की प्रतीक्षा करना बड़ा ही कठिन है। हे ब्रजनाथ श्रीकृष्ण ! हमने जो तुमसे प्रेम किया है उसकी लाज तो रख लो। हे जग में प्रकाश फैलाने वाले ! हमारे शीश पर विराजमान होओ, हमें दर्शन दो। तुम्हारे साथ होने से हमें सदा सुख मिलता है। हे छबीले कृष्ण—छाया के साथ हम तुम्हारे साथ रहना चाहती हैं, सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते हम तुम्हें ही देखना और तुमसे ही भेंट करना चाहती हैं।

विशेष—(१) गोपियों के प्रेम की अनन्यता का यहाँ वर्णन है।

(२) अलंकार—अनुप्रास।

(४)

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परै, स्याम हरित दुति होय॥

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि बिहारीलाल ने परम्परा के अनुसार मंगला-चरण पद्धति का अनुसरण किया है। यहाँ कवि ने श्री राधा जी की स्तुति की है। कवि का कथन है।

व्याख्या—जिस चतुर राधा के सुन्दर तन की झलक पड़ने मात्र से श्याम वर्ण वाले श्रीकृष्ण हरे रंग की आभा से युक्त हो जाते हैं, वही राधा मेरे सांसारिक दुःखों का हरण करें—यह मेरी विनती है। प्रस्तुत अर्थ में कवि ने गौर वर्णा राधा के तन के सौंदर्य की प्रशंसा की है। क्योंकि, गौर वर्ण की आभा पड़ने से श्याम वर्ण में हरापन आ जाता है।

विशेष—(१) कवि बिहारी मूलतः राधा वल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। अतः प्रस्तुत दोहे में उन्होंने राधा की ही अभ्यर्थना की है।

अलंकार—श्लेष, काव्यलिंग, हेतु।

(५)

मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोय।
बसति सुचित अन्तर तऊ, प्रतिबिम्बित जग होय॥

प्रसंग—बिहारी सतसई के प्रस्तुत दोहे में कोई कृष्ण भक्त कवि अपने आराध्य के प्रति अपनी भक्ति भावना को व्यक्त कर रहा है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण का कोई भक्त कवि कह रहा है कि हे मन ! तनिक मन को मोहने वाले श्रीकृष्ण की सुन्दर छवि की ओर तो देख। यद्यपि श्रीकृष्ण का यह भक्त-रूप मेरे अन्तर्मन में बसा हुआ है तो भी यह सारे संसार में उद्भासित हो रहा है, यही श्रीकृष्ण के अलौकिक रूप की विलक्षणता है। इस रूप की विलक्षणता यह भी है कि यद्यपि जो वस्तु किसी के भीतर रहती है उसका प्रतिबिम्ब बाहर पड़ ही नहीं सकता; किन्तु श्रीकृष्ण की स्थिति और है। जिस भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण का भक्त रूप समा जाता है उसे सारा संसार कृष्णमय दीखता है। सारी सृष्टि में उसी श्रीकृष्ण का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

अलंकार—विभावना।

(६)

अधर धरत हरि कैं परत, ओठ डीठि-पट-जोति।
हरित बांस की बांसुरी, इन्द्र धनुष-सी होति॥

प्रसंग—राधा की एक सखी ने श्रीकृष्ण को बांसुरी बजाते हुए देखा और वह श्रीकृष्ण के इस रूप पर मोहित हो गई; क्योंकि, उन्होंने अपने होठों से जो बांसुरी लगा रखी थी, वह होठों की लालिमा, नेत्रों की श्यामलता तथा वस्त्रों की पीलिमा के कारण इन्द्र धनुष रंग की हो गई थी। सखी इस प्रकार के वर्णन से नायिका के मन में श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न करना चाहती है। प्रस्तुत दोहे में वह नायिका से इसी घटना का वर्णन कर रही है।

व्याख्या—नायिका की सखी नायिका से कह रही है—हे सखि, जैसे ही श्रीकृष्ण ने अपने अधरों पर बांसुरी रखी तो वह हरे रंग की बांसुरी उनके होठों की अरुणिमा, नेत्रों की श्यामलता और वस्त्रों की पियराई के कारण इन्द्र धनुषी रंगों की दीखने लगी। हे सखि ! श्रीकृष्ण के सान्निध्य से जब बांस की एक बांसुरी की शोभा इतनी अधिक बढ़ गई तो तुम्हारे उनके निकट पहुँचने से तुम्हारी शोभा भी कितनी अधिक बढ़ जाएगी, यह तुम स्वयं सोच लो।

विशेष—(१) प्रस्तुत दोहे में वर्णित नायिका दूती श्रेणी की है।

(२) अलंकार—वाचक लुप्तोपमा और तद्गुण।

(७)

मोर मुकुट की चन्द्रकनि, यौं राजत नंद-नंद।
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चंद॥

प्रसंग—कविवर विहारीलाल द्वारा रचित प्रस्तुत दोहे में नायिका की सखी नायिका से मोर-मुकुट धारी श्रीकृष्ण की अनुपम शोभा का वर्णन कर रही है।

व्याख्या—नायिका की सखी नायिका से कह रही है कि हे सखि, श्रीकृष्ण के सिर पर सुशोभित मोर पंखों के मुकुट की चन्द्रिकाएँ देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् शिव की ईर्ष्या करने वाले कामदेव ने अपने सिर पर सैकड़ों चन्द्रमा धारण कर रखे हों।

विशेष—(१) प्रस्तुत दोहे में वारण छंद का प्रयोग किया गया है।
(२) अलंकार—हेतुत्प्रेक्षा और यमक।

(८)

तजि तीरथ, हरि राधिका तनन्दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज केलि-निकुंज-मग, पग-पग होत प्रयाग॥

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कोई ब्रजवासी भक्त ब्रज-प्रदेश की प्रशंसा कर रहा है। कवि का इस सम्बन्ध में कथन है।

व्याख्या—ब्रज प्रदेश की प्रशंसा करते हुए कोई ब्रजवासी भक्त अपने आपसे कह रहा है कि हे मन, तीर्थों का मोह छोड़कर श्रीकृष्ण और राधा के शरीर के सौंदर्य के प्रति अपने आपको लगा, तब तुझे ब्रज के विहार-कुंजों के मार्ग में पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग के दर्शन होंगे। कहने का भाव यह है कि श्रीकृष्ण श्याम वर्ण के हैं और राधिका जी गौर वर्णा हैं, इन दोनों के मिलन से यमुना और गंगा तो यहाँ उपस्थित हैं ही और इनसे अनुराग करने पर सरस्वती स्वतः मिल जाएगी और इस प्रकार ब्रज प्रदेश में ही संगम उपस्थित हो जाएगा। ब्रज प्रदेश में अनेक तीर्थराजों का फल मिलता है, इसलिए हे मन! तू तीर्थों की यात्रा में क्यों श्रम करता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत दोहे का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि श्रीकृष्ण

और राधा के प्रति अनुराग रखने से यही ब्रज प्रदेश तीर्थराज प्रयाग बन जाता है, अतः अन्य तीर्थों की यात्रा करने से क्या लाभ ?

(२) अलंकार—काव्यलिंग और उल्लास।

(९)

चिरजीवौ जोरी, जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ए वृजभानुजा, वै हलधर के वीर॥

प्रसंग—प्रस्तुत दोहा बिहारी द्वारा रचित है। श्री राधिका जी ने मान किया है और श्रीकृष्ण उनका मान-भंग करने का पूरा यत्न करते हैं किन्तु राधा जी का मान भंग नहीं होता। दोनों के मध्य मिलाप कराने की दृष्टि से राधाजी की एक सखी दोनों को सुनाते हुए दूसरी सखी से कह रही है :

व्याख्या—श्री राधिका जी की एक सखी दोनों को अर्थात् श्रीकृष्ण और राधाजी को सुनाते हुए दूसरी सखी से कह रही है कि हे सखी ! श्रीकृष्ण और राधा की यह जोड़ी चिरजीवी हो और ये दोनों चिरस्थायी प्रेम से क्यों न जुड़े अर्थात् निश्चय ही जुड़ जाएंगे; क्योंकि ये दोनों तो एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं अर्थात् दोनों में से कोई भी तो कम नहीं है। इनमें से एक अर्थात् श्री राधिका जी तो वृषभानु जैसे महापुरुष की पुत्री हैं और दूसरे अर्थात् श्रीकृष्ण जी बलदेव के भाई हैं। कहने का भाव यह है कि ये दोनों ही श्रेष्ठ परिवारों से सम्बन्ध रखते हैं। अतः ये दोनों मिल ही जाएँगे और चिरस्थायी प्रेम सूत्र में बन्ध जाएँगे।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति और श्लेष।

(१०)

पत्रा ही तिथि पाइयै, वा घर कैं चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौई रहै, आनन ओप उजास॥

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि बिहारीलाल ने नायिका के मुख की शोभा का वर्णन किया है। नायिका की सखी नायक के समक्ष उसके (नायिका के) मुख की शोभा का वर्णन कर रही है।

व्याख्या—नायक के समक्ष नायिका के मुख की शोभा का वर्णन करते हुए उसकी सखी कहती है—हे नायक, उस नायिका के घर के चारों ओर

नित्यप्रति पूर्णमासी ही रहती है अर्थात् उसके मुख की आभा से उसके घर के चारों ओर चन्द्रमा का-सा प्रकाश बना रहता है। ऐसी स्थिति में वहाँ तिथि जानने का एक मात्र साधन पत्रा ही रह जाता है। कहने का आशय यह है कि तिथि निर्धारण के दो ही साधन हैं—पत्रे द्वारा अथवा चन्द्रमा के प्रकाश द्वारा। प्रस्तुत दोहे में वर्णित नायिका के प्रसंग में दूसरा साधन असफल ही रहेगा। क्योंकि, नायिका के मुख की आभा ने चन्द्रमा की चाँदनी का स्थान ले लिया है। अतः उसके घर के आसपास तिथि के निर्धारण के लिए पत्रे का ही प्रयोग किया जा सकता है।

अलंकार—परिसंख्या एवं काव्यलिंग।

(११)

मंगल बिंदु सुरंग मुख ससि केसर आड़गुरू।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत॥

प्रसंग—नायिका ने अपने ललाट पर लाल रंग की बिंदी और केसर का तिरछा तिलक धारण कर रखा है जिसे देखकर नायक उस पर रीझ गया है। नायिका के इस रूप-लावण्य की प्रशंसा करते हुए नायक, नायिका की अन्तरंग सखी से कह रहा है।

व्याख्या—नायिका की अन्तरंगिनी सखी से नायिका के रूप-लावण्य की प्रशंसा करते हुए नायक कह रहा है कि नायिका के माथे पर अंकित लाल बिंदी रूप मंगल, उसके मुख रूपी चन्द्रमा और केसर के तिरछे तिलक के रूप में बृहस्पति—ये तीनों नायिका रूपी एक ही नारी में एकत्र हो गए हैं—जिन्होने मेरे नेत्र रूपी संसार को आनंदमय बना दिया है। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार ज्योतिष के अनुसार मंगल, चन्द्रमा और बृहस्पति एक ही नाड़ी में स्थित होकर भारी जलवृष्टि के कारण होते हैं उसी प्रकार एक ही नारी में इन तीनों ग्रहों के एकत्र हो जाने से मेरा नेत्र रूपी संसार आनन्दमय हो उठा है।

विशेष—(१) कवि के ज्योतिष ज्ञान की जानकारी प्राप्त होती है।
(२) अलंकार—श्लेष से परिपुष्ट सांगरूपक।

(१२)

जिसन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में नायिका की सखी नायक के समक्ष उसके शरीर की दिव्य शोभा का वर्णन कर रही है।

व्याख्या—नायक के समक्ष नायिका के शरीर की अपार शोभा का वर्णन करते हुए उसकी सखी कह रही है कि हे नायक! उस नायिका के शरीर की कान्ति का वास्तविक चित्र खींचने के लिए संसार के अत्यन्त कुशल चित्रकार अत्यधिक गर्व के साथ कार्यरत हुए किन्तु सभी का प्रयत्न असफल रहा। कहने का आशय यह है कि नायिका की छवि का वास्तविक चित्र अंकित करने के लिए संसार के सर्वाधिक चित्रकार प्रवृत्त हुए किन्तु नायिका की शोभा इतनी अपार और अनुपम थी कि कोई भी चित्रकार नायिका के रूप का यथार्थ चित्र नहीं खीच सका।

विशेष—(१) प्रस्तुत दोहे में वर्णित अंकुरित यौवना मुग्धा श्रेणी की है।
(२) अलंकार—पुनरुक्ति और काकुवक्रोक्ति।

(१३)

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सौं कियौ, दीरघ-दाघ-निदाघ॥

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि बिहारी लाल ने ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्डता का वर्णन करते हुए यह बताया है कि भीषण गर्मी के कारण ऐसे जीव-जन्तु भी जिनके मध्य परम्परागत वैर चला आता है, प्रेमभाव से रह रहे हैं और इसका एकमात्र कारण यह है कि प्रचण्ड ताप के कारण सभी निढाल हैं, किसी को किसी का ध्यान नहीं है।

व्याख्या—कवि कहता है कि भीषण गर्मी के कारण व्याकुल हुए सर्प, मोर, हिरण और बाघ एक ही स्थान पर रहते हैं। लगता है प्रचण्ड ताप से युक्त ग्रीष्म ने सारे संसार को तपोवन सा बना दिया है और जिस प्रकार तपोवन में तपस्वियों के प्रभाव से सभी जीव-जन्तु अपना वैर-भाव त्यागकर प्रेमपूर्वक रहते हैं; उसी प्रकार इस भीषण गर्मी में भी सर्प, मोर, हिरण और बाघ एक-दूसरे से निशंक होकर विचरण कर रहे हैं।

अलंकार—पूर्णोपमा।

(१४)

गिरि तें ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसु नरन कौं, प्रेम-पयोधि पगार ॥

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि विहारीलाल ने प्रेमतत्व की महिमा का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि कह रहा है जिस प्रेम के अथाह सागर में पर्वतों से भी ऊँचे रसिक लोगों का मन हजार बार डूब चुका है अर्थात् जिस सागर की थाह रसिक जनों को आज तक नहीं मिल पाई है, वही प्रेम का सागर अरसिकों अर्थात् पशुवत मनुष्यों को एक छोटी-सी खाई अर्थात् गड्ढा दिखाई देता है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रेम रूपी सागर को पर्वत से ऊँचे रसिक आज तक पार नहीं कर सके हैं उसी सागर को अरसिक लोग एक छोटी-सी खाई समझे हुए हैं।

विशेष—(१) कवि ने अत्यन्त प्रभावात्मक शैली में प्रेमतत्व की महिमा का वर्णन किया है।

(२) अलंकार—रूपक, अनुप्राय, व्यतिरेक।

(१५)

समै समै सुन्दर सबै, रूपु-कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहा कवि विहारीलाल की एक प्रस्ताविक उक्ति है जिसमें यह बताया गया है कि संसार में सभी वस्तुएँ अपने-अपने समय पर सुन्दर होती हैं। वस्तुतः ईश्वर ने कुछ भी कुरूप नहीं बनाया है। समय के अनुसार तथा रुचि के अनुरूप ही वस्तुएँ सुन्दर और असुन्दर होती हैं।

व्याख्या—कवि कह रहा है कि अपने-अपने समय पर सब वस्तुएँ सुन्दर होती हैं। विधाता की इस सृष्टि में कोई भी सुन्दर अथवा असुन्दर नहीं होता। मनुष्य के मन की रुचि जिस वस्तु के प्रति जितनी होती है, उस समय उसे उस वस्तु में उतनी ही शोभा दिखाई देती है। कहने का भाव यह है कि सौंदर्य वस्तु में नहीं मनुष्य के मन के भीतर होता है और जिस वस्तु के प्रति उसकी जितनी आसक्ति होती है उसे वह उतनी ही सुन्दर दिखलाई देती है।

विशेष—(१) सौदर्य की स्थिति का वर्णन हुआ है।

(२) अलंकार—परिसंख्या।

(१६)

हौं समझ्यों निरधार, यह जग कांचौ कांच-सौ।
एकैरूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहां ॥

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कविवर बिहारीलाल ने ब्रह्म की सर्वव्यापकता का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि का कथन है कि मैंने तो इस संसार को निराधार समझा था, इसका रूप तो मुझे कच्चे कांच जैसा दीख पड़ता था किन्तु जब मैं विचार करता हूँ तो पाता हूँ कि ब्रह्म एक है, उसका रूप अपार है और संसार में उसे हर स्थान पर देखा जा सकता है अथवा सग्रा संसार उसी का ही तो प्रतिबिम्ब मात्र है।

विशेष—ईश्वर की सर्वव्यापकता वर्णित है।

(२) अलंकार—अनुप्रास।

(१७)

हरि, कीजत तुमसौं यहै, बिनती बार हजार।
जेहि जेहि भांति डरो रहौ, परो रहौ दरबार ॥

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में श्रीकृष्ण का कोई उपासक अपने आराध्य के प्रति अपनी भावांजलि व्यक्त कर रहा है।

व्याख्या—अपने आराध्य को सम्बोधित करते हुए भक्त कह रहा है कि हे वृन्दावन विहारी, मैं तो तुमसे यही एक प्रार्थना हजार बार करता हूँ कि किसी न किसी प्रकार आपके दरबार में पड़ा रहूँ। कहने का भाव यह है कि मुझे मुक्ति की कामना नहीं है, मैं तो तुम्हारे दर्शनों का इच्छुक हूँ और तुम्हारे दर्शन तभी प्राप्त हो सकते हैं जबकि मैं तुम्हारे दरबार में पड़ा रहूँ। इसलिए हे श्रीकृष्ण ! मेरी यही प्रार्थना है कि मैं किसी भी अवस्था में आपके दरबार में ही लुढ़कता-पुढ़कता रहूँ।

विशेष (१) सगुण भक्ति का प्रतिपादन हुआ है।

(२) अलंकार—लोकोक्ति।

भाषा में अंकित किये गये हैं। 'रासपंचाध्यायी' का मुख्य आधार श्रीमद्-भागवत है। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में वर्णित गोपी-कृष्ण रासलीला को ही रासपंचाध्यायी में स्थान मिला है। शृङ्गार रस के मनोहारी चित्र प्रस्तुत करने में भक्त कवि को अनुपम सफलता प्राप्त हुई है। श्रीमद्भागवत का भावानुवाद होने पर भी नन्ददास की मौलिकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। शृंगार रस के साथ-साथ कवि की भक्ति भावना का सामंजस्य भी दृष्टिगोचर होता है। रासलीला वर्णन से पूर्व अनुकूल वातावरण की सृष्टि करने में कवि को विशेष सफलता मिली है। शरदात्रि के चन्द्रोद्रय का एक सुन्दर चित्र द्रष्टव्य है—

जदपि सहज माधुरी विपिन सब दिन सुखदाई।
तदपि रंगीला सरद रितु मिल अति छवि छाई॥
× × ×
मन्द मन्द चलि चारु चन्द्रमा अज छवि छाई।
उझकत है जनु रमा रमन पिय कौतुत आई॥

'भँवरगीत' नन्ददास जी की उत्कृष्ट रचना है। इसके पूर्व भाग में उद्धव गोपी संवाद है तथा उत्तरार्द्ध में कृष्ण-प्रेम में गोपियों की विरह-दशा का वर्णन है। यह रचना सूरदास के भ्रमरगीत की परम्परा में ही पड़ती है, किन्तु इसमें कवित्व से दार्शनिकता अधिक है। सूर की गोपियों से ये गोपियाँ अधिक तर्कमयी हैं। लगता है विश्वविद्यालय से तर्क-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करके आई हैं। इनमें भी निर्गुण ब्रह्म पर सगुण की प्रतिष्ठा की गई है। पूर्व भाग में सगुण-निर्गुण का वाद-विवाद है तथा कवि के दार्शनिक विचारों की प्रधानता है, किन्तु उत्तरार्द्ध में गोपियों के प्रेम एवं विरह-दशा के वर्णन में कवि-हृदय की भावुकता एवं सहज अनुभूति अच्छी तरह व्यक्त हुई है।

पूर्वार्द्ध में गोपियों और उद्धव के संवादों की योजना तार्किक शैली पर हुई है। उद्धव निर्गुण ब्रह्म को इन्द्रियों से रहित एवं ज्ञान-गम्य स्वीकार करते हैं।

हाथ न पाऊ, न नासिका, नैंन, बैन नहिं कान।

गोपियाँ तर्कपूर्ण उक्तियों से उद्धव के कथन का खण्डन करती हैं—

जो मुख नाहिन हुतो कहो किन माखन खाओ।
पाँव विना गो संग कहो बन-बन को धाओ॥

गोपियों के अनन्य प्रेम और तन्मयता से प्रभावित होकर उद्धव का हृदय द्रवित हो उठता है। वे अपने ज्ञान-गर्व को भूलकर गोपियों के प्रेम की सराहना करते हैं।

इस प्रकार नन्ददास जी के काव्य में सरसता एवं मनोरमता का सामंजस्य उपलब्ध होता है। किसी शब्द को उपयुक्त स्थान पर सुन्दर ढंग से जड़ देने में उनका विशेष कौशल दिखलाई देता है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है—

और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।

अष्ट छाप के अन्य कवियों की अपेक्षा नन्ददास के काव्य का कलापक्ष समृद्ध है।

नन्ददास जी के ग्रन्थ अत्यन्त रोचक, सरस और भावपूर्ण हैं। 'रासपंचाध्यायी' को तो हिन्दी के 'गीत गोविन्द' की संज्ञा दी जाती है। रोला छन्द लिखने में इनको कमाल हासिल है। छन्दवद्ध कोश लिखने वालों में भी इन्हीं का नाम सर्वप्रथम है। 'अनेकार्थमाला' में एक-एक शब्द के कई अर्थ दिये हैं। 'नाममाला' में तो और भी अधिक चमत्कार है। नामों के साथ साहित्यिक सामग्री भी जुटाई गयी है। जैसे—

अंग, नथ, भूमृत, दरीमृत, शृंगी शिखरी होय।
शैल, शिलोच्चय गोत्र, हरि, अद्रि, ग्राम पुनि सोय॥
गिरी गोवर्धन वामकर, धर्यो स्याम अभिराम।
तो उरते वा धकधकी, गई न अवलौं वान॥

इनके फुटकर पद भी उपलब्ध होते हैं। किन्तु 'रासपंचाध्यायी' तथा 'भँवरगीत' में इनके कवि होने के प्रमाण प्राप्त हैं तथा साहित्य-जगत् में इन्हीं ग्रन्थों को अधिक आदर मिला है। ये ग्रन्थ नन्ददास जी की कीर्ति के स्थायी स्तम्भ हैं।

प्रश्न—महाकवि देव का संक्षिप्त जीवन परिचय देते हुए उनकी काव्यगत विशेषताएँ बताइए।

उत्तर—जीवन-परिचय—महाकवि देव इटावा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। विद्वानों ने इन्हें कान्यकुब्ज सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। इनका जन्म सम्वत् १७३० में माना जाता है; क्योंकि 'भावविलास' ग्रन्थ का रचना काल इन्होंने सम्वत् १७४६ दिया है और उस

ग्रन्थ के निर्माण के समय अपनी आयु सोलह वर्ष की बताई है। कहा जाता है कि इनके गुरु गोस्वामी हितहरिवंशजी थे, किन्तु यह मत ठीक नहीं लगता। एक छोटे-से जीवन-वृत्त के अतिरिक्त देव का कोई वृत्तान्त नहीं मिलता; हाँ, इतना स्पष्ट है कि इन्हें कोई अच्छा आश्रय-दाता नहीं मिला। अतः यह बराबर रईसों के यहाँ घूमते रहे। इन्होंने कहीं भी सुख के साथ काल यापन नहीं किया। जान पड़ता है कि अन्तिम समय में इन्हें राजा मोतीलाल का आश्रय मिला, जिनके नाम पर इन्होंने सम्वत् १७८३ में 'रसविलास' नामक ग्रन्थ की रचना की।

रचनाएँ—रीतिकाल के सभी कवियों से इन्होंने अधिक ग्रन्थों की रचना की है। अब तक २७ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जो इस प्रकार हैं;—(१) भाव विलास, (२) भामिनी विलास, (३) कुशल विलास, (४) जाति विलास, (५) रस विलास, (६) राधिका विलास, (७) पावन-विलास, (८) वृक्ष विलास, (९) अष्ट याम, (१०) सुन्दरी-सिन्दूर (संग्रह,) (११) सुजान विनोद, (१२) प्रेम-तरंग, (१३) राग रत्नाकर, (१४) देव चरित्र, (१५) प्रेम चन्द्रिका, (१६) काव्य-रसायन, (१७) सुख सागर तरंग (संग्रह) (१८) देव माया प्रपंच (नाटक), (१९) ब्रह्म दर्शन-पच्चीसी, (२०) आत्मदर्शन-पच्चीसी, (२१) तत्वदर्शन-पच्चीसी, (२२) जगदर्शन-पच्चीसी, (२३) नीति शतक, (२४) नख-शिख, (२५) रसानन्द लहरी (२६) प्रेम-दीपिका (२७) सुमिल विनोद। अभी तक इनके चार-पाँच ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं।

काव्य-पक्ष—देव आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सम्मुख आते हैं। कवित्व-शक्ति देव में खूब थी; परन्तु उसके सम्यक् प्रस्फुटन में इनकी रुचि प्रायः बाधक सिद्ध हुई है। अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें, कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न करते हैं। तुकान्त और अनुप्रास के लिए वे कहीं-कहीं शब्दों को तोड़ते-मरोड़ते तो थे ही, वाक्य को ही अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूर्ण रूप से हो पाया हो या जहाँ उसमें कम बाधा पड़ी हो, वहाँ रचना अत्यन्त सरस बन पड़ी है। इसका-सा अर्थ सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीतिकालीन कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इस काल के कवियों में इनका नाम विशेष गौरव से लिया जाता है। कहीं-कहीं इनकी कल्पना अति सूक्ष्म और दुरारूढ़ है।

भाषा—देव ने शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग किया है, किन्तु अपनी आवश्यकता के अनुसार शब्दों को खूब तोड़ा-मरोड़ा भी है। इनकी कविता में ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुणों का समावेश है। इनकी उक्तियाँ अद्वितीय हैं। कविवर विहारी के पश्चात् भावाभिव्यक्ति में इन्हीं का नाम वड़े आदर के साथ लिया जाता है। पं० वालदत्त मिश्र तो इन्हें सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे। उन्होंने सुख सागर तरंग के आदि में लिखा है—

सूर-सूर, तुलसी सुधाकर, नक्षत्र केसव,
सेष कविराज को जुगुनू जनायकै।
दोऊ परिपूरन भगति दरसायौ अव,
काव्यरीति मोसन सुनहुचित्त लायकै।
देव नभ मण्डल समान है कवीन मध्य,
जामें भानु सितभानु तारागन आयकै।
उदय होत अथवत्, चारों ओर भ्रमत पै,
जाकों ओरछोर नहीं परत लखायकै।

देव की इस प्रशंसा में अत्युक्ति है। हालांकि 'हिन्दी-नवरत्न' तथा 'मिश्र वन्धु विनोद' के रचयिताओं का भी कुछ-कुछ ऐसा ही मत है। यह ठीक है कि इनकी कविता सरस, भावपूर्ण एवं ओजस्विनी है किन्तु उसकी अपनी सीमा भी है। सूर और तुलसी से उसकी तुलना करके उन्हें श्रेष्ठ कहना अनुचित है। कुछ दिनों हिन्दी-साहित्य-संसार में इस विषय पर भारी विवाद रहा। देव ने अपनी प्रखर प्रतिभा से पूर्ववर्ती श्रेष्ठ कवियों के कई भाव ज्यों-के-त्यों उठाकर अपनी रचनाओं में रख दिए हैं। उनके ग्रन्थ सर्वदा अदोष हों, यह नहीं कहा जा सकता है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि देव व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में से एक हैं, किन्तु इनकी कविता का प्रचार अधिक नहीं हुआ। इसका कारण यही हो सकता है कि इनका काव्य प्रायः जटिल-सा है। शब्दों की तोड़-मरोड़ के कारण भाव अव्यवस्थित हैं। गूढ़ोक्तियों के कारण भी इनका काव्य दुर्बोध वन गया है। यह भी सम्भव है कि श्रृंगार की बहुलता भी इनके प्रचार में आड़े आई हो, किन्तु फिर भी, इनकी कविता उत्तमता में हीन नहीं है। प्रचार के अभाव के कारण इनका महत्व घटता नहीं है। देव-जैसे महाकवियों के कारण प्राचीन व्रजभाषा का मस्तक ऊँचा रहेगा देव सदृश सर्वव्यापी दृष्टि वाले

कवि रत्नों के प्रकाश से साहित्य-संसार सदा जगमगाता रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।" इनकी कविता के कुछ उत्तम उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) सखी के सकोच, गुरु सोच मृगलोचनि,
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि हुओ गात।
देव वै सुभाय मुसकाय उठि गये यहाँ।
सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात॥
कौन जाने, री बीर! विनु विरही विरह कथा,
हाय! हाय! करि पछिताय न कछु सुहात।
वड़े-वड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढारि,
गोरो गोरो मुख आज ओरो सो विलानो जात॥

(२) जवते कुँवर कान्ह रावरो, कलानिधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी।
तव ही तें देव देखी देवता-सी हँसति-सी,
रीझति-सी, खीजत-सी, रूठति रिसानी सी॥
छोही-सी, छली-सी, छीनलीनी सी-छकी-सी छिन,
जकी-सी, टकी-सी, लगी थकी थहरानी-सी।
वीधी-सी, वँधी-सी विप वूड़ति विमोहित-सी,
वैठी वाल वकति, विलोकति विकानी-सी॥

व्याख्या-भाग

नन्ददास

(१) भीजि वसन तन लिपटि निपटि छवि अंकित है अस।
नैननि के नहिं वैन, वैन के नैन नहीं जस॥
नित्य रास-रस मत्त नित्य गोपी जन वल्लभ।
नित्य निगम जो कहत नित्य नवतन अति दुरलभ॥
यह अद्भुत रस-रास महाछवि कहत न आवै।
सेस सहस मुख गावत तौहू अन्त न पावै॥
सिव मन ही मन ध्यावै, काहू नाहिं जनावै।
सनक सनन्दन नारद-सारद अति मन भावै॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश भक्त कवि नन्ददास द्वारा रचित 'रासपंचाध्यायी' से अवतरित है। कवि ने प्रस्तुत पद्यांश में कृष्ण-गोपियों की रास-लीला से आनन्दित ब्रजवासियों का चित्रण और रास लीला के मनोमुग्धकारी प्रभाव का चित्रण किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—कृष्ण का गोपियों के साथ रास रचना भक्तजनों को अपार सुख प्रदान करता है। गोपियों के साथ केलिविहार करते समय कृष्ण की छवि अनिर्वचनीय है। जिस प्रकार भीगे वस्त्र अपने शरीर पर लपेटे हुए कोई सुन्दर तरुणी अत्यन्त लावण्यमयी दिखाई देती है, उसी प्रकार कृष्ण की विहार-लीला नेत्रों और कानों को सुख देती है। नेत्र इस सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु वाणी के बिना अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं। वाणी देखने में असमर्थ होने के कारण इस सौन्दर्य का पान नहीं कर सकती। वेद पुराण कहते हैं कि भगवान नित्य नूतन शरीर धारण नहीं करते किन्तु भगवान कृष्ण को तो नित्य ब्रजभूमि में रासलीला में निमग्न देखा गया है, वे तो नित्य गोपियों के प्रिय के रूप में दर्शनीय हैं। कृष्ण की रास-केलियों से उत्पन्न यह अपूर्व छवि अवर्णनीय है। सहस्र मुख शेषनाग इसका गान तो करते हैं किन्तु पार नहीं पा सकते। शंकर इस छवि का मन ही मन ध्यान करते रहते हैं, किन्तु इस बात को कोई नहीं जानने पाता। कृष्ण की यह अनुपम छवि ब्रह्मा के सनक और सनन्दन को भी अत्यन्त प्रिय है।

विशेष—(१) कवि की अनुभूति को अभिव्यक्त करने में ब्रजभाषा पूर्णतः समर्थ है। (२) 'भीजि वसन तन लिपटि छवि अस' और 'नैननि के नहिं बैन, बैन के नहिं नैन जस' अत्यन्त सुन्दर प्रयोग है। (३) रोला छन्द का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(२) *कहन श्याम-संदेश एक मैं तुम पै आयो।*
कहत समै संकेत कछू अवसर नहिं पायो॥
सोचत ही मन में रह्यो, कब पाऊँ इक ठाऊँ।
कहि संदेश नन्दलाल को, बहुरि मधुपुरी जाऊँ॥
सुनो ब्रजनागरी॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश कवि 'नन्ददास' द्वारा लिखित 'भँवर-गीत' से लिया गया है। श्रीकृष्ण ने अपने परम सखा उद्धव को अपने विरह में आकुल-व्याकुल

व्रजबालाओं को परितोष देने के लिए गोकुल भेजा है। इन पंक्तियों में उद्धव व्रजबालाओं से कह रहे हैं—

व्याख्या—मैं मथुरा से तुम लोगों को श्रीकृष्ण का एक सन्देश देने के लिए आया हूँ। अभी तक मुझे इस संदेश को कहने के लिए कोई एकांत स्थल और उचित अवसर नहीं मिला। मैं अपने मन में विचार करता रहा कि कोई अच्छा स्थान मिले तो मैं आप लोगों को श्रीकृष्ण का संदेश सुनाकर मथुरा लौट जाऊँ।

विशेष—(१) प्रस्तुत स्थल श्रीमद्‌भागवत से थोड़ी सी भिन्नता लिए हुए है। श्रीमद्‌भागवत में गोपियाँ नारी-सुलभ लज्जा के फलस्वरूप स्वयं इस बात के लिए उत्सुक थी कि कोई एकान्त स्थल ढूँढ़कर उद्धव से कृष्ण का समाचार पूछती हैं। लेकिन नन्ददास के यहाँ स्थिति नितान्त भिन्न है। यहाँ उद्धव स्वयं एकांत स्थल की खोज में हैं। (२) 'समै सकेत' से प्रेम की गोपनीयता व्यक्त हुई है। (३) काव्यलिंग और अनुप्रास अलंकार है।

(३) कोउ कहै, रे मधुप कहा तू रस कों जानैं।
बहुत कुसुम पै बैठि सब आपन सम मानै॥
आपन सम हमकों कियो, चाहत है मति मंद।
दुविध ग्यान उपजाय कै, दुखित प्रेम आनंद॥
कपट के छन्द सों॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश कवि 'नन्ददास' द्वारा प्रणीत 'भँवर-गीत' से लिया गया है। उद्धव गोपियों को योग का सन्देश सुना चुके हैं। इस पद्यांश में एक सखी उद्धव को भ्रमर के माध्यम से सम्बोधन करते हुए कहती है—

व्याख्या—हे मधुप ! तू रस का लोभी है, तू वास्तविक प्रेम को क्या जाने ? तू अनेक पुष्पों पर बैठकर रस चूस लेता है, किन्तु उनसे प्यार नहीं करता। तू तो रस-लम्पट है। तू सबको अपना जैसा समझता है। हे मूढ़ ! हमें भी अपना जैसा बनाना चाहता है। कपट भरी योग और निर्गुण ब्रह्म की बातें सुनाकर हमारे मन में अनिश्चय और अज्ञान उपजाकर हमें दुःखी करना चाहता है। हम तो श्रीकृष्ण के प्रेम में पगी हुई हैं। हमें तेरा योग नहीं चाहिए।

विशेष—(१) श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का अटूट प्रेम दर्शनीय है। (२) भ्रमर किसी एक पुष्प पर विहार नहीं करता, वह तो अनेक पुष्पों

का रस चूसकर भी तृप्त नहीं होता है। एक स्थान पर प्रसाद ने भी कहा है—भ्रमर कब एक कली का है। (३) अन्योक्ति अलंकार की सुन्दर योजना है। (४) उद्धव भी ऐसे हैं। वह स्वयं तो श्रीकृष्ण के पास रहते हैं, उनसे प्यार करते हैं, बातें करते हैं योग की।

(४) कोउ कहै, रे मधुप तुम्हें लज्जा नहिं आवै।
सखा तुम्हारो स्याम कूवरी नाथ कहावै॥
यह नीची पदवी हुती, गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय॥
मरत कह बोल को।

प्रसंग—प्रस्तुत पद कवि 'नन्ददास' द्वारा लिखित 'भँवरगीत' से लिया गया है। उद्धव कृष्ण का सन्देश गोपियों को सुना चुके हैं। अब गोपियाँ अपनी प्रतिक्रिया स्वरूप रोष अभिव्यक्त कर रही हैं। प्रस्तुत पद में एक गोपी कहती है—

व्याख्या—हे मधुप ! तुम्हें लज्जा नहीं आती। तुम्हारे सखा कृष्ण कहलाते हैं। गोपीनाथ हैं किन्तु आजकल कुब्जा के पास प्यार की पींगें बढ़ा रहे हैं। अतः उन्हें अब कुब्जादास का विरुद धारण करना चाहिए। गोपीनाथ कहलाने से इस विरुद (कुब्जादास) का अपमान होता है। उनके लिए तो अब गोपीवंश के स्थान पर यदुवंश पवित्र हो गया है और हम लोगों से कुब्जादासी अच्छी है। उनके सामीप्य का लाभ उठा रही है। हमारे लिए तो यह वचन मरण से कम नहीं।

विशेष—(१) इस पद में 'कूबरीनाथ और गोपीनाथ' शब्दों का प्रयोग कर गोपियाँ कृष्ण के कपट-प्रेम पर व्यंग्य कर रही हैं। (२) कुब्जा के प्रति असूया भाव का प्रकाशन भी किया जाता है।

देव

(१) पायन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिन में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पटपीत, हियै हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचन्द-जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर श्री ब्रजदूलह देवसहाई॥

प्रसंग—प्रस्तुत सवैया कविवर देव द्वारा रचित है तथा 'व्रजमाधुरीसार' नामक पुस्तक से उद्धृत है। कवि इन पंक्तियों में भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति कर रहा है।

व्याख्या—हे कृष्ण ! आपके चरणों में सुन्दर नूपुर बज रहे हैं, कटि में बँधी हुई किंकिन की मधुर ध्वनि आ रही है। आपके श्याम-वर्ण पर पीताम्बर सुन्दर रूप में शोभित है, गले में सुन्दर मोतियों की माला अनुपम शोभा पा रही है। आपने माथे पर मुकुट धारण कर रखा है, आपके नेत्र चंचल और बड़े-बड़े हैं तथा आपके मुख-चन्द पर चाँदनी के समान मंद हँसी छाई हुई है। हे संसार रूपी मन्दिर के दीपक ! आपकी जय हो ! हे देव ! आप व्रज के श्रृंगार हैं, मेरे सहायक बनिए।

विशेष—(१) श्रीकृष्ण का परम्परागत उपमानों को लेकर रूप-वर्णन किया है। (२) 'जग-मन्दिर-दीपक' में रूपक अलंकार है।

धाये फिरें व्रज में, बधाये नित नंदजू के,
गोपिन सधाये, नाचौ गोपन की भीरी में।
देव मति मूढै तुम्हें, कहाँ पावै, चढ़े,
पारथ के रथ, वैठे जमुना के नीर में॥
आँकुस है दौरि हरनाकुस कौ फारयौ उर,
साथी न पुकारयौ हते, हाथी हिय तीर में॥
विदुर की भाजि, वेर भीलिनी के खाय,
विप्र चाउर चवाय, दुरे द्रोपदी के चीर में॥

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि देव द्वारा रचित है तथा 'व्रजमाधुरी सार' नामक पुस्तक से लिया गया है। कवि भगवान कृष्ण से कह रहा है कि आपने क्या-क्या नहीं किया, किन्तु मैं मंदमति आपको ढूँढ़ नहीं पा रहा हूँ।

व्याख्या—हे श्रीकृष्ण ! आप व्रज में दौड़े-फिरे, नन्द बाबा के घर नित्य बधाइयाँ बजीं। व्रज-वल्लभियों से प्रेम किया, गोप-ग्वालों की मण्डली में नाचे फिरे। मंदमति देव आपको कहाँ ढूँढ़े, कहाँ पावै ? आपने महाभारत युद्ध में अर्जुन के रथ का संचालन किया। आप यमुना के जल में प्रवेश कर गए। आपने अपने भक्त प्रहलाद के लिए हिरण्यकश्यपु का हृदय नखों से फाड़ दिया। आप गजराज के पुकारने पर फौरन दौड़े चले आए और ग्राह से उसकी रक्षा

की। आपने कौरवों के भोजन को ठुकराकर विदुर के घर का अन्नजल ग्रहण किया और शबरी-भीलनी के झूठे बेरों को स्वीकार किया। ब्राह्मण सुदामा के चावलों का भक्षण किया, द्रौपदी के चीर को बढ़ाकर उसकी लाज की रक्षा की। अतः आप मेरी भी रक्षा करें, यही आप से मेरी विनती है।

विशेष—(१) इस कवित्त छन्द में कई पौराणिक कथाएँ संकेतित हैं। (२) कवि का विष्णु के सभी अवतारों में विश्वास लक्षित होता है।

(३) कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंगनि-कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसो नरलोक, परलोक वर लोकनि में,
लीन्हि में अलीक, लोक लोकनि में न्यारी हौं॥
तन जाऊँ, मन जाऊँ, देव गुरुजन जाऊँ,
प्रान कि न जाउ-टक टरति न टारी हौं।
वृन्दावन वारो वनवारी की मुकुट वारी,
पीत पटवारी वाहि मूरति पै वारी हौं॥

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त महाकवि देव द्वारा रचित है और 'ब्रजमाधुरी सार' नामक पुस्तक में से लिया गया है। एक सखी के कृष्ण से प्रेम है। वह कहती है, मुझे लोक लाज की चिन्ता नहीं मैं तो कृष्ण की मोहनी 'मूरति' पर पूर्णरूपेण न्योछावर हो चुकी हूँ।

व्याख्या—एक गोपी कहती है कि चाहे कोई मुझे कुल्टा कहे, उत्तम कुल की पवित्र नारी कहे या नीच, चरित्रहीन कहे, कोई चाहे मुझे रंगणि, कलंकिनी कुनारी कहे। मुझे इस लोक-परलोक या लोक-लाज की कोई चिन्ता नहीं, मैंने तो अमर्यादा का आचरण किया है लोक-रीत की मुझे कोई चिन्ता नहीं, मैं लोक-मर्यादा से सर्वथा अलग हूँ। देव कवि कहते हैं कि चाहे मेरा शरीर नष्ट हो जाए, मन मुझे धिक्कारने लगे, मेरे गुरुजन मेरा त्याग दें किन्तु मैं अपना कृष्ण प्रेम का प्रण कदापि नहीं छोड़ूँगी, मुझे जो लगन है उसे ही निभाऊँगी वृन्दावन के उपवनों में भ्रमण करते हुए मुकुट धारी पीताम्बरधारी वनवारी श्रीकृष्ण की मंजुल मूरति पर मैं अपने आपको न्योछावर कर चुकी हूँ।

विशेष—(१) इसमें सच्चे प्रेम की अनन्यता प्रदर्शित की गई है। (२) अनुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है।

कवितावली

(गोस्वामी तुलसीदास)

बालकाण्ड

(१) अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से॥
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह में विकसे॥१॥

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यांश श्री गोस्वामी तुलसीदास प्रणीत 'कवितावली' के बालकाण्ड से लिया गया है।

प्रसंग—इस छन्द में अयोध्या नरेश दशरथ द्वारा अपने पुत्र रामचन्द्र को गोदी में खिलाने का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—(एक सखी अन्य सखी से कहती है) हे सखी ! मैं प्रातः काल अयोध्या नरेश महाराजा दशरथ के द्वार पर गई थी। उसी समय दशरथ नरेश अपने पुत्र रामचन्द्र जी को गोद में लेकर बाहर आए। मैं समस्त दुःखों को हरण करने वाले बालक की शोभा को देखकर चकित सी रह गयी। उन्हें धिक्कार है जो बालक के ऐसे रूप को देखकर मुग्ध नहीं हुए। हे सखी ! खंजन के समान मन को आनंदित करने वाले अंजन लगे हुए उस बालक के नील नेत्र ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानों चन्द्रमा (रामचन्द्र जी का मुख) के भीतर दो नवीन और बराबर के सुन्दर नील कमल खिले हुए हों।

विशेष—(१) राम के रूप सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। (२) राजा दशरथ द्वारा पुत्र को गोद में लेकर खिलाने में वात्सल्य रस का वर्णन हुआ है। (३) अंतिम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार।

(२) पग नूपर औ पहुँची कर कंजनि मंजुवनी वनमाल लिए।
नवनील कलेवर पीत झंगा झलकै पुलकै नृप गोद लिए॥
अरविंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए।
मन मों न बस्यो अस बालक जौ तुलसी जग में फल कौन जिए॥२॥

संदर्भ—प्रस्तुत छंद श्री गोस्वामी तुलसीदास प्रणीत 'कवितावली' के 'बालकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश में रामचन्द्रजी के वेशभूषा और आभूपणों का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—पैरों में घुंघरू हैं। कमल के समान सुन्दर हाथों में पहुँची है। हृदय पर सुन्दर मोतियों की माला शोभायमान हो रही है। नवीन नीले कमल के समान श्यामशरीर पर पीले रंग का झँगा झलक रहा है। ऐसे बालक रामचन्द्र को गोद में लेकर राजा दशरथ हर्ष से पुलकित हो रहे हैं, उनका सुन्दर मुख कमल के समान है। मकरंद के समान मनोहर रूप है, जिसे पान करते हुए नेत्र रूपी भ्रमर आनंदित हो रहे हैं। कवि तुलसीदास कहते हैं जिनके हृदय मे ऐसे बालक का ध्यान न आया हो तो संसार में उनका जीवन व्यर्थ है।

विशेष—(१) राम की वेशभूपा एवं रूप सौन्दयं का बड़ा ही मनोहारी चित्रण हुआ है। (२) तीसरे चरण में 'अरविन्द सो आनन' में उपमा, अलंकार का प्रयोग हुआ है। (३) 'कर-कंजनि तथा रूप-मरंद' में रूपक।

(३) तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे छवि भूरि अनंग की दूरि धरैं।।
दमके दतियाँ दुति दामनि ज्यों किलकैं कल बाल विनोद करैं।
अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में बिहरैं।।३।।

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यांश 'श्री गोस्वामी तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'बालकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—इस छंद में तुलसीदास ने अयोध्या नरेश दशरथ के चारों पुत्रों के तन की शोभा का वर्णन किया है।

व्याख्या—उनके शरीर की शोभा नील कमल के समान है। सुन्दर नेत्र कमल की शोभा को हरने वाले हैं। धूल से भरा हुआ होने पर भी उनका शरीर अत्यन्त शोभायमान है और कामदेव की छवि को भी लज्जित करने वाला है। छोटे-छोटे दाँत बिजली के समान चमक रहे हैं। वे किलक किलककर मनोहर बाल क्रीड़ाएँ कर रहे हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि अयोध्या नरेश दशरथ के चारों बालक (रामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न) मेरे मनरूपी मन्दिर में सदैव विहार करते रहें।

विशेष—(१) दशरथ के चारों पुत्रों की अनुपम सुन्दरता का वर्णन किया गया है। (२) तन की दुति स्याम सरोरुह-में उपमा, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं-में व्यतिरेक, अति सुन्दर.........दूरि धरै-में व्यतिरेक, दमके दतियाँ.........ज्यों में उपमा, मन-मन्दिर में रूपक-अलंकारों का प्रयोग किया है।

(४) वर दंत की पंगति कुंद कली अधराधर-पल्लव खोलन की।
चपला चमके घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुंघरारि लटा लटकै मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
नेवछावरि प्रान करै तुलसी बलिजाऊँ लला इन बोलन की॥५॥

संदर्भ—प्रस्तुत छंद 'श्री गोस्वामी तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'बालकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—इस पद्यांश में महाकवि तुलसी ने भगवान श्रीरामचन्द्र के अंगों का तथा आभूषणों का वर्णन किया है।

व्याख्या—कुंद की कली के समान उज्जवल वर्ण दांतों की पंक्ति, नवीन पत्तों के समान सुन्दर अधरपुटों का खोलना तथा अमूल्य मोतियों की माला की छवि ऐसी जान पड़ती है मानों काले बादलों के बीच बिजली चमक रही हो। मुख पर घुंघराले बालों की लटें लटक रही हैं। सुन्दर कपोलों पर कुंडल शोभायमान हो रहे हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि मैं इन सब छवियों पर प्राण न्यौछावर करता हूं तथा उनकी तोतली बोली पर बलिहारी जाता हूं।

विशेष—(१) श्रीराम की अनुपम छवि एवं आभूषणों का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया गया है। (२) उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलंकार।

(५) सरजू वर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरुबीर सबै।
धनुहीं कर तीर निषंग कसे कटि पीत दुकूल नवीन फबै॥
तुलसी तेहि औसर लावनिता दस चारि नौ तीन इक्कीस सबै।
मति भारति पंगु भई जो निहारि विचारि फिरी उपमान पबै॥७॥

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यांश 'श्री गोस्वामी तुलसी दास' प्रणीत 'कवितावली' के 'बालकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—इस छंद में महाकवि तुलसी ने धनुष बाण सहित श्रीराम, उनके भाई और मित्रों के विचरते हुए रूप का वर्णन किया है।

व्याख्या—भगवान श्रीरामचन्द्रजी, उनके मित्र और सब भाई सरयू नदी के किनारे पवित्र तट पर घूमते फिरते हैं। उनके हाथों में सुन्दर धनुष

वाण हैं, कमर में तरकस कसा हुआ है और शरीर पर नवीन रेशमी पीले वस्त्र अत्यन्त शोभायमान हो रहे हैं। तुलसीदास कहते हैं कि उस समय उन सब की शोभा (राम की जमात की शोभा) दसों दिग्पालों, चारों चतुर्व्यूहियों (कृष्ण, वलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) नवों अवतारों (राम के अलावा विष्णु के शेष नव अवतार) तीन ईशों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) से भी इक्कीस अर्थात् सर्वोपरि थी। श्री सरस्वती राम की जमात की शोभा की उपमा चहुँ ओर खोजती फिरीं, परन्तु जव उपमा देने योग्य कोई वस्तु उन्हें नहीं मिली तव उनकी बुद्धि कुंठित हो गई तथा यह विचार करके कि अव कहीं उपमा नहीं मिलेगी, वे अपने स्थान पर पुनः लौट आईं। (तुलसीदास का तात्पर्य यह है कि जव सरस्वती भी उपमा नहीं दे सकतीं तव मैं कैसे इस सुन्दरता का वर्णन कर सकता हूँ)

विशेष—(१) 'दस चारि नौ तीन इक्कीस' के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति में उपमा माधुर्य के *दस गुण, प्रताप के चार गुण, ऐश्वर्य के नवगुण, प्रकृति के तीन गुण तथा यश के इक्कीस गुणों का अर्थ किया गया है।* (२) गीताप्रेस की प्रति में इसका अर्थ क्रमश: दस चारि चौदह भुवनों, नवखण्डों, तीन लोकों और इक्कीस ब्रह्माण्डों से लिया गया है। (३) सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार।

(६) सीय के स्वयंवर समान जहाँ राजनि को,
राजनि के राजा महाराजा जानै नाम को ?
पवन पुरंदर कृसानु भानु धनद से,
गुण के निधान, रूपधाम, सोम काम को ?
वान वलवान जातुधानप सरीखे सूर,
जिनके गुमान सदा सालिम संग्राम को ?
तहाँ दसरत्थ के समर्थ नाथ तुलसी
चपरि चढ़ायो चाप चन्द्रमा ललाम को?॥६॥

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यांश 'श्री गोस्वामी तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'वालकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—इस छंद में तुलसीदास ने सीता स्वयंवर में अनेक देशों से पधारे हुए राजा महाराजाओं के वल विक्रम और सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—सीताजी के स्वयंवर में राजाओं का समाज जुड़ा हुआ है। वहाँ राजाओं के भी राजा महाराजा एकत्रित हुए हैं। भला उनके नाम को कौन

जान सकता है ? वे बल में वायु के समान, ऐश्वर्य में इन्द्र के समान, तेज में अग्नि के समान, प्रताप में सूर्य के समान और कुबेर के समान लक्ष्मीवान तथा अनेक गुणों के भण्डार थे। सुन्दरता में कामदेव और चन्द्रमा भी उनकी तुलना नहीं कर सकते थे। उनके वाणासुर जैसे बलवान और राक्षसराज रावण जैसे शूरवीर भी थे, जिन्हें कि युद्ध भूमि में सदैव दृढ़ और सकुशल रहने का अभिमान था अर्थात् युद्ध में जिनकी विजय निश्चित थी। उसी राजसभा में दशरथ के पुत्र और तुलसी के सामर्थ्यवान स्वामी रामचन्द्रजी ने बड़ी चपलता से चन्द्रमौलि भगवान शंकर का धनुष चढ़ा दिया।

विशेष—वाणासुर एवं रावण जैसे शूर वीरों से अधिक वीर श्रीराम को कवि ने यहाँ बताया है। (२) श्रीराम ने शंकर के उस धनुष को सरलता से चढ़ा दिया जिसे अन्य शूर वीर न चढ़ा सके। (३) अतिशयोक्ति अलंकार (४) अनुप्रास की छटा।

(७) मयन महन पुर दहन गहन जानि,
आनि कै सवै को सारु धनुष गढ़ायो है।
जनक सदसि जेते भले-भले भूमिपाल,
किए वलहीन वल आपनो बढ़ायो है॥
कुलिस कठोर कर्म पीठ ते कठिन अति
हठि न पिनाक काहु चपरि चढ़ायो है।
तुलसी सो राम के सरोज पानि परसत ही।
टूट्यो मानो वारे ते पुरारि ही पढ़ायो है॥१०॥

संदर्भ—प्रस्तुत छंद 'महाकवि तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'वालकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—इस छंद में तुलसीदास ने भगवान शंकर के धनुष की कठोरता होते हुए भी श्रीराम द्वारा सरलता से तोड़े जाने का वर्णन किया है।

व्याख्या—कामदेव को नष्ट करने वाले भगवान शंकर ने त्रिपुर नामक राक्षस का विध्वंस करना बहुत कठिन जान, समस्त शक्तिमान पदार्थों को एकत्र कर तथा उनका सार लेकर जिसका निर्माण किया जिसने कि जनक की सभा में आये हुए बड़े-बड़े सम्राटों के बल को घटाकर अपना ही बल बढ़ाया और जो वज्र से भी अधिक कठोर तथा कछुए की पीठ से भी अधि

कठिन था, जिसको कोई भी राजा बलपूर्वक फुर्ती से नहीं चढ़ा सका, तुलसीदास जी कहते हैं वही धनुष रामचन्द्रजी के कमल समान हाथों का स्पर्श करते ही उसी प्रकार टूट गया है जैसे धनुष को बचपन से ही शिवजी ने यह पाठ पढ़ाया हो कि राम के हाथों का स्पर्श होते ही टूट जाना।

विशेष—(१) धनुष की कठोरता का वर्णन हुआ है। (२) श्री राम के अतिशय बल विक्रम का उल्लेख हुआ है। (३) सरोज पानि में रूपक (४) अंतिम पंक्ति में उत्प्रेक्षा (५) विभावना अलंकार।

(८) दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर मांहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूल गई कर टेक रही पल टारत नाहीं॥१७॥

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यांश "महाकवि तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'बालकाण्ड' से अवतरित है।

प्रसंग—इस छंद में तुलसीदास ने दूल्हा और दुलहिन के रूप में श्री राम और श्री जानकी का वर्णन किया है—

व्याख्या—जनकपुरी के राजमहल में रामचन्द्रजी दूलह बने हुए हैं और सीता दुलहिन बनी हुई है। समस्त सौभाग्यवती और सुन्दरी प्रौढ़ नारियाँ एकत्र होकर मंगल गान गा रही हैं। बालक लोग वेद ध्वनि कर रहे हैं। अपने कंकन के नग में सीताजी राम के मनोहर रूप का प्रतिबिम्ब अपलक नयनों से देखने लगीं। इस कारणवश सीताजी अपनी सुधि भूल गई तथा इस भय से हाथ भी टेके रहीं कि कहीं हाथ हटाने से राम के रूप का प्रतिबिम्ब नग में से न हट जाए। टकटकी लगाकर वे राम के रूप को देखने लगीं।

विशेष—(१) श्री राम की रूप छवि का पान श्री सीताजी अपने हाथ के कंकन के नग की परछायी में कर रही हैं। (२) रति नामक स्थायी भाव पुष्ट होकर संयोग श्रृंगार की स्पष्ट छवि प्रस्तुत कर रहा है। (३) सात्विक भावों का सुन्दर अंकन हुआ है। (४) सवैया छन्द।

(९) मख राखिबे के काज राजा मेरे संग दए,
जीते जातुधान जे जितैया विबुधेश के।
गौतम की तीय तारी, मेटे अघ भूरिभारी,

लोचन अतिथि भए जनक जनेश के ॥
चंड बाहु दंड वल चंडीस को दंड खंड्यो,
ब्याही जानकी, जीते नरेस देस-देस के।
सांवरे गोरे सरीर धीर महावीर दोऊ।
नाम राम लखन, कुमार अवधेश के ॥२१॥

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यांश 'भक्त कवि तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'बालकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—इस छंद में तुलसीदास ने परशुराम जी से विश्वामित्र जी दशरथ पुत्र राम और लक्ष्मण की वीरता का वर्णन करते हुए कहते हैं—

व्याख्या—विश्वामित्र परशुराम से कहते हैं कि मेरे यज्ञ की रक्षा करने के लिए महाराजा दशरथ ने इन्हें मेरे साथ कर दिया था। इन्होंने अपने पराक्रम से इन्द्र को भी जीतने वाले राक्षसों का विध्वंस कर दिया। गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या के बड़े भारी पापों को नष्ट कर उसे तार दिया। अब नर नाथ जनक के नेत्रों के अतिथि हुए अर्थात् उन्हें आकर दर्शन दिए हैं। अपनी प्रचंड भुजाओं के बल से इन्होंने शिवजी के धनुष को तोड़ डाला और देश-विदेश के अनेक राजाओं को जीत कर सीताजी का वरण किया है। ये सांवले शरीर तथा गौरवर्ण के दोनों बलशाली भाई अयोध्या नरेश दशरथ के सुपुत्र राम और लक्ष्मण हैं।

विशेष—(१) विश्वामित्र जी श्री राम एवं लक्ष्मण के अलौकिक कार्यों का परिचय परशुराम से कराते हैं। (२) श्री राम ने बल पराक्रम में इन्द्र को भी जीत लिया है। (३) गौतम की पत्नी अहल्या जो शापवश पत्थर की शिला बन गई थी श्री राम के पदरज से उद्धार पा गई इस अन्तर्कथा का उल्लेख हुआ है।

अयोध्या काण्ड

(१) कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषन उप्पम अंगनि पाई।
बौध तजी मगवास के रूख ज्यों पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई॥
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देव सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥१॥

संदर्भ—प्रस्तुत छंद 'भक्तकवि तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से अवतरित है।

प्रसंग—इस छंद में तुलसीदास ने वन-गमन करते हुए राम, लक्ष्मण और सीता की वेश-भूषा का वर्णन किया है।

व्याख्या—वन-गमन के अवसर पर श्री राम के अंगों ने राजसी वस्त्रों और अलंकारों को त्यागकर वही शोभा पाई जो तोता अपने पंखों को त्याग कर पाता है अर्थात् श्री राम अपने शरीर से राजसी वस्त्र तथा आभूषणों को त्यागकर उसी प्रकार हर्षित हुए, जिस प्रकार वसंत ऋतु आने पर तोता अपने पंखों को त्यागकर हर्षित होता है। अयोध्या नगरी को उन्होंने ऐसे त्याग दिया जिस प्रकार कोई पथिक मार्ग में आने वाले वृक्षों को बिना किसी दु.ख के त्याग देता है। अयोध्या के नर-नारियों को भी उन्होंने उसी प्रकार छोड़ दिया जैसे मार्ग के साथियों को बिना किसी प्रकार के दुःख के छोड़ दिया जाता है। साथ में सुयोग्य भाई लक्ष्मण और पतिव्रता पत्नी सीताजी इस प्रकार दिखाई दे रहे थे मानो धर्म और क्रिया ही सुन्दर शरीर धारणकर शोभायमान हो रहे हों। इस प्रकार कमल समान नेत्र वाले श्री राम अपने पिता का राज छोड़कर पथिक की तरह वन को चले।

विशेष—(१) श्री राम ने बिना किसी हिचक के अपने पिता का राज त्यागकर जो संन्यासी का वेश धारण किया उसी का यहाँ वर्णन है। (२) दूसरे चरण में उपमा अलंकार (३) तीसरे चरण में उत्प्रेक्षा अलंकार (४) राजिव-लोचन में रूपक, बटाऊ की नाईं में उपमा। (५) प्रथम पंक्ति में भी उपमा।

(२) "कीजै कहा जीजी जू" सुमित्रा परि पाँच कहै,
तुलसी सहावै विधि सोई सहियतु है।
रावरो सुभाव राम जन्म ही ते जानियतु,
भरत की मातु को न ऐसा चहियतु है॥
जाई राजघर ब्याहि आई राजघर माँहि,
राजपूत पाए हूँ न सुख लहियतु है।
देह सुधा गेह ताहि मृगहू मलीन कियो॥
ताहू पर बाहु बिनु रोह गाहियत है॥४॥

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यांश 'महाकवि तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—इस छंद में तुलसीदास ने सुमित्रा के द्वारा कौशल्या को यह समझाने का प्रयास किया है कि भाग्य की गति कोई नहीं जानता है :—

व्याख्या—सुमित्राजी कौशल्या के पैरों पर गिरकर कहती हैं कि हे बहिन क्या किया जाय ? भाग्य में जो कुछ लिखा होता है वह सहना ही पड़ता है। श्री राम जैसे सुशील पुत्र की माता होने से ही तुम्हारे स्वभाव की साधुता प्रमाणित होती है, परन्तु क्या भरत की माता का ऐसा करना उचित था ? तुम राजकुल में उत्पन्न हुई हो, राजकुल में ही तुम्हारा विवाह हुआ है, और राज्याधिकारी सर्वश्रेष्ठ पुत्र भी तुमने पाया। पर इतना होने पर भी तुम सुख को न पा सकी। देखो, चन्द्रमा में यद्यपि अमृत का निवास है तथापि एक तो भृग ने उसे कलंकित कर दिया और उस पर भी विना भुजा वाले राहु द्वारा वह ग्रसा जाता है। (अर्थात् आपको एक ही दुःख नहीं, वरन् और दुःख सहने पड़े है। आपके पुत्र को राज्याधिकार से ही वंचित नहीं किया, वरन् उन्हें वनवास भी दिया गया है।)

विशेष—(१) भाग्य की गति अज्ञात होती है। (२) अंतिम चरण में दृष्टान्त अलंकार।

(३) नाम अजामिलि से खल कोटि अपार नदी भव बूढ़त काढ़े।
जो सुमिरे गिर मेरु सिलाकन होत अजाखुर बारिध बाढ़े॥
तुलसी जेहि के पद पंकजि तें प्रगटी तटिनी जो हरै अघ गाढ़े।
सो प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े॥५॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत छंद 'महाकवि तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से अवतरित है।

प्रसंग—इस छंद में तुलसीदास ने संसार के पापियों का उद्धार करने वाले भगवान राम द्वारा केवट से गंगा पार करने के लिए नाव मांगे जाने का वर्णन किया है—

व्याख्या—जिसके नाम का स्मरण मात्र करने से ही अजामिल जैसे करोड़ों दुष्ट संसार रूपी अपार नदी में डूबने से बच गए जिनके स्मरण से सुमेर पर्वत भी पत्थर के कण के समान और बढ़ा हुआ समुद्र भी बकरी के खुर के समान क्षुद्र हो [illegible] है। तुलसीदास जी कहते हैं कि जिनके चरण कमलों से बड़े-बड़े पापों [illegible] पुनी ने वाली गंगा नदी प्रकट हुई है, वे ही भगवान् रामचन्द्र जी नदी को पार [illegible] के लिए नदी के किनारे खड़े होकर नाव मांग रहे हैं।

विशेष—(१) अजामिल बड़ा ही पापी ब्राह्मण था। भगवान् का नाम कभी नहीं लेता था। वह अपने छोटे पुत्र नारायण को बहुत प्यार करता था।

मृत्यु के समय जब यमदूत उसे लेने आये तो घबराकर उसने अपने पुत्र को 'नारायण-नारायण' कहकर पुकारा। नारायण का नाम सुनते ही विष्णु के दूत अजामिल को यमदूतों से छुड़ा कर स्वर्ग ले गये। (२) श्रीराम के अलौकिक रूप का वर्णन किया गया है। (३) 'स्वै सरिता' से अर्थ यह है कि श्रीराम विष्णु के अवतार थे और गंगाजी भी विष्णु के चरणों से निकली हैं। (४) अनुप्रास की छटा। (५) सवैया छन्द।

(४) पात भरी सहरी, सकल सुत वारे-वारे,
केवट की जाति कछु वेद न पढ़ाइ हों।
सब परिवार मेरो याही लागे राजाजू ! हों,
दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइ हों॥
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरेगी मेरी,
प्रभु सो निषाद ह्वै वात न वढ़ाइ हों।
तुलसी के ईस राव रावरी सों, साँची कहों,
बिना पग धोए नाथ नाव न चढ़ाई हों ॥८॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यांश 'भक्त कवि तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—इस छंद में तुलसीदास ने केवट की उस चतुराई का वर्णन किया है जिसमें केवट ने राम के चरण धोकर उनकी पद रज ले ली है—

व्याख्या—केवट कहता है कि हे प्रभु, केवल मैं पत्तल भर कर मछली मारता हूँ। ये ही मेरी जीविका का साधन है। मेरे सभी बच्चे छोटी अवस्था के हैं फलतः वे जीविका पैदा करने के योग्य नहीं है। मैं केवट जाति अर्थात् नीची जाति का पुरुष हूँ अतः मैं उनको वेद भी नहीं पढ़ा सकता, जिससे वे जीविका पैदा करने के योग्य नही बन सकते इसी नाव के सहारे मेरे समस्त परिवार का भरण-पोषण होता है। मैं तो दीन और निर्धन पुरुष हूँ, दूसरी नाव भी नहीं बनवा सकता। हे प्रभो ! केवट जैसी नीच जाति का होने के कारण मैं आप से व्यर्थ का विवाद भी नहीं करता। आपकी शपथ लेकर मैं सच कहता हूँ कि बिना आपके पैर धोए अपनी नाव पर नहीं चढ़ाऊँगा, नहीं तो मेरी नाव भी गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या की भाँति आपके चरण रज के स्पर्श से उड़ जायेगी।

विशेष—(१) श्रीराम का अलौकिक रूप का वर्णन हुआ है जिसमें पद

रज के प्रभाव की बात कही है। (२) केवट की चतुराई का उल्लेख हुआ है, (३) गौतम की······मेरी मे उपमा। (४) घनाक्षरी कवित्त।

(५) पुरतें निकसी रघुवीर वधू धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुटि सूखि गए मुधराधर वै।
फिर बूझत है "चलनो अब केतिक पर्नकुटी करिहौ कितह्वै।"
तिय की लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै॥

संदर्भ—प्रस्तुत छंद 'तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'अयोध्या काण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश में वन में चलते हुए सीता के थक जाने पर उनकी आकुलता का वर्णन किया है।

व्याख्या—रघुवीर प्रिया सीताजी नगर से बाहर निकलने पर बड़ी धीरता के साथ थोड़ी दूर तक मार्ग पर चलीं। परन्तु सुकुमारता के कारण उनके ललाट पर पसीने की बूँदें चमकने लगीं तथा मधुर होठ सूख गए। अतः वे रामचन्द्रजी से पूछने लगी कि अब कितनी दूर और चलना है तथा किस स्थान पर पर्णकुटी बनानी है। सीताजी की ऐसी व्याकुल अवस्था देखकर श्री रामचन्द्रजी की सुन्दर आँखों से जल की धारा बहने लगी।

विशेष—(१) सीता की नारी सुलभ कोमलता एवं थकावट का वर्णन हुआ है। (२) श्रीराम की आँखों में आँसू इसीलिए आ गये कि वे यह सोचने लगे कि मेरे दुर्भाग्य का फल बेचारी सीता को भी भोगना पड़ रहा है। (३) वन मार्ग की थकावट का स्वाभाविक वर्णन होने से स्वाभावोक्ति अलंकार। (४) 'सवैया' छन्द।

(६) वल्कल बसन धनुवान पानि तून कटि,
रूप के निधान घन-दामिनी बरन हैं,
तुलसी सुतीय संग सहज सुहाए अंग
नवल कवँलहू तें कोमल चरन हैं॥
औरै सो बसंत औरै रति औरै रति पति,
मूरति विलों के तनमन के हरन हैं।
तापस वेषै बनाइ पथिक पथै सुहाई,
चले लोक लोचननि सुफल करन हैं॥१७॥

संदर्भ—प्रस्तुत छंद "भक्त कवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—इस पद्यांश में वन में चलते हुए श्री राम, लक्ष्मण और जानकी के रूप का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—(राम लक्ष्मण) वल्कल वस्त्र धारण किए हुए हैं। उनके हाथों में धनुष बाण तथा कमर में तरकस है। वे रूप के आगार हैं और उनका वर्ण क्रमश: मेघ और बिजली के समान है। उनके साथ में सुन्दर नारी है जिसके अंग स्वभावत: ही सुकुमार है तथा चरण नवीन कमल के समान कोमल है सीताजी रति हैं और श्यामवर्ण वाले श्री राम दूसरे कामदेव हैं। उन सुन्दर मूर्तियों का अवलोकन तन मन को हरने वाला है। ऐसा प्रतीत होता है मानों ये तीनों (वसंत, रति और कामदेव) सुन्दर तपस्वियों के वेष धारण करके पथिक के रूप में, मार्ग के नर नारियों के नेत्रों को सफल करने निकले हैं।

विशेष—(१) श्री राम, लक्ष्मण एवं सीता के अनुपम रूप सौन्दर्य का वर्णन हुआ है। (२) नवल कँवल·······चरन है—में उपमा। (३) तीसरे चरण में तद्रूप रूपक एवं गम्योत्प्रेक्षा अलंकार। (४) 'कवित्त' छन्द।

(७) वनिता-वनी स्यामल गौर के बीच बिलोक हुरी सखी मोहिसी ह्वै।
मग जोगु न कोमल क्यों चलि है ? सकुचात मही पद पंकज छ्वै॥
तुलसी सुनिग्राम वधू बिथकीं, पुलकी तन औ चले लोचन च्वैं।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप, अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥१८॥

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यांश "महाकवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से अवतरित है।

प्रसंग—इस पद्यांश में वन में चलते हुए श्री राम, लक्ष्मण और सीता को देखकर एक ग्रामीण स्त्री दूसरी स्त्री से कहती है कि वे अत्यंत कोमल अंग वाली सीता जी कठोर मार्ग पर चलने योग्य नहीं हैं।

व्याख्या—(एक ग्रामीण स्त्री अन्य स्त्री से कहती है) हे सखि ! मेरे समान मन लगाकर देखो, सांवले और गोरे के बीच एक स्त्री कैसी शोभायमान लग रही है। वे अत्यंत कोमल हैं और कठोर मार्ग पर चलने योग्य नहीं हैं। उनके चरण कमलों के स्पर्श से तो पृथ्वी भी सकुचाती है। तुलसीदास कहते हैं कि उस ग्रामीण स्त्री की बात सुनकर अन्य ग्रामीण स्त्रियाँ स्तब्ध सी रह गईं। उनका

शरीर पुलकायमान हो गया, और आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे। ये राजा के दोनों कुँवर सब प्रकार से मनोहर अनुपम रूपवान और मन को मोहने वाले हैं।

विशेष—(१) सीता के कोमल रूप को देखकर ग्रामीण नारियाँ यह सोचकर क्षुब्ध हैं कि ऐसी सुकुमार नारी क्यों कर नंगे पैर कठोर मार्ग पर चल रही है। (२) ग्रामीण स्त्रियों के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने में उनके सात्त्विक भावों का वर्णन हुआ है। (३) सवैया छन्द। (४) पर्यावाचक लुप्तोपमा।

(८) रानी मै जानी अजानी महा पवि पाहन हूते कठोर हियो है।
राजहुँ काज अकाज न जान्यो, कह्यो तियको जेहि कान कियो है।
ऐसी मनोहर मूरति ये, बिरे कैसे पीतम लोग जियो है।
आँखिन में सखि राखिवे जोगु इन्हें किमि के बनवास दियो है ॥२०॥

संदर्भ—प्रस्तुत छंद 'श्री गोस्वामी तुलसीदास' प्रणीत 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—इस छंद में ग्रामीण स्त्रियाँ आपस में वार्तालाप करते हुए कहती हैं कि निश्चय ही वह रानी मूर्ख है और राजा अज्ञानी है, जिसने ऐसे कोमल अंग वालों को वनवास दिया है।

व्याख्या—हे सखि। मैंने जान लिया कि रानी मूर्ख है और उसका हृदय पत्थर तथा वज्र से भी अधिक कठोर है। राजा ने भी अपने कर्तव्य तथा अकर्तव्य का कुछ ध्यान नहीं रखा और स्त्री के वचनों को मान लिया। इनकी ऐसी मनोहर छवि है, भला इनके वियोग में इनके प्रिय लोग किस प्रकार जीवित रहे होगे। हे सखि ! ये तो आँखों में रखने योग्य हैं। इन्हें फिर किस कारणवश वनवास दिया गया है ?

विशेष—(१) राजा दशरथ की अज्ञानता एवं कैकेयी की क्रूरता का वर्णन हुआ है। (२) 'कान कियो है' मुहावरे का सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग। (३) 'सवैया' छन्द।

(९) सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाय कछू मुसकाय चली।
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकत लोचन लाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै बिगसी मनो मंजुल कंज कली ॥२२॥

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यावतरण "भक्त कवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—इस पद्यावतरण में ग्रामीण स्त्रियाँ सीताजी से जब उनके पति के बारे में पूछती हैं तो सीताजी भारतीय नारी की लज्जा को धारण करते हुए तिरछी दृष्टि से उनके प्रश्नों का उत्तर देती हैं।

व्याख्या—ग्रामीण स्त्रियों के अमृत से भरे सुन्दर वचन सुनकर सीताजी ने समझ लिया कि ये सब बड़ी चतुर हैं। अतः सीताजी (रामचन्द्र की ओर, तिरछी चितवन से देखकर और ग्रामीण स्त्रियों को संकेत द्वारा बतलाकर मुस्कराती हुई चल दीं। तुलसीदास जी कहते हैं कि उस समय लोचनों के लाभ रूप श्री रामचन्द्रजी को देखती हुई समस्त सखियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानों सूर्य के उदय से प्रेम रूपी तालाब में कमल की मनोहर पंखुड़ियाँ खिल उठी हों। (श्री रामचन्द्रजी रूपी सूर्य के उदय होने से प्रेम रूपी तालाब में स्त्रियों रूपी कमलों की कलियाँ खिल गईं।)

विशेष—(१) भारतीय आर्य ललना की उस स्वाभाविक लज्जा का वर्णन किया गया है जिसमे वह अपने पति का न तो नाम लेती है और न उसके बारे में कोई बात करना चाहती है अपितु मात्र संकेतों से वह प्रश्नों का उत्तर देती है। (२) अनुराग-तड़ाग में रूपक। (३) अंतिम चरण में उत्प्रेक्षा।

(१०) विन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि वृन्द सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद-मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे ॥२८॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत छंद "महाकवि तुलसीदास" द्वारा रचित 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—इस छंद में महाकवि तुलसी ने विंध्याचल पर्वत पर श्री राम के भ्रमण करने से, उनकी पद-रज से एक शिला के स्त्री बन जाने की कथा का वर्णन किया है। जब यह बात विंध्याचल के तपस्वी ब्रह्मचारियों ने सुनी तो वे बड़े आनंदित हुए। उन्हीं तपस्वियों के आनंद का वर्णन इसमें किया गया है।

व्याख्या—तुलसीदास जी कहते हैं कि विंध्याचल पर्वत पर रहने वाले महाव्रतधारी ब्रह्मचारी और उदासी लोग जो कि नारियों के न होने से बड़े दुखी थे, यह कथा जानकर बड़े प्रसन्न हुए कि रामचन्द्र जी के चरण स्पर्श से गौतम की पत्नी अहिल्या पत्थर से नारी हो गई। वे अत्यंत आनंदित होकर कहने लगे कि हे रामचन्द्र जी आपने हम पर बड़ी कृपा की जो इस वन मे

पधारे। अब आपके कमल के समान कोमल चरणों का स्पर्श पाकर समस्त शिलायें सुन्दर रमणियाँ बन जाएँगी।

विशेष—(१) श्रीराम के अलौकिक रूप का वर्णन हुआ है। (२) गौतम की पत्नी अहिल्या के उद्धार की अंतर्कथा का उल्लेख हुआ है। (३) पद-कंज में रूपक। (४) हास्य रस की उद्भावना हुई है। (५) 'सवैया' छन्द।

सुन्दर काण्ड

(१)

बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर,
खोरि-खोरि धाइ आइ बाँधत लंगूर है।
तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलो गात कै-कै,
लात के अघात सहे जी में कहे "कूर है" ॥
बाल किलकारी कै-कै तारी दै-दै गारी देत,
पाछें लागे बाजत निसान ढोल तूर हैं।
बालधी बढ़न लागि ठौर-ठौर दीन्हीं आगि,
विंध्य की दवारि, कैधों कोटि सत सूर हैं ॥३॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यावतरण "गोस्वामी तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'सुन्दरकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—इस पद्यावतरण में राक्षसों द्वारा वस्त्रों को एकत्र कर तथा उन्हें तेल में डुबोकर हनुमान की पूंछ में बांधकर लंका के राक्षसों द्वारा दिखाये गये कौतुक का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—राक्षसगण गली-गली से दौड़कर आते हैं तथा वस्त्रों को एकत्र कर उन्हें तेल मे डुबो-डुबोकर हनुमानजी की पूंछ में बांधते हैं। वैसे ही हनुमानजी भी कौतुक करने की इच्छा से अपना शरीर ढीला करते हुए अपने को डरा हुआ प्रतीत करते हैं और राक्षसों की लातों के अघात को सहन करते हुए मन ही मन कहते है कि ये राक्षस लोग बड़े क्रूर हैं। बालक किलकारी मार-मार तालियाँ बजाते हुए हनुमान जी को गालियाँ देते हैं और उनके पीछे नक्कारे (नगाड़े), ढोल तथा तुरही बजाते हैं। हनुमान की पूंछ लम्बी होने लगी मानो विंध्याचल पर्वत की दावाग्नि हो अथवा करोड़ों सूर्य एक साथ चमक रहे हों।

विशेष—(१) राक्षसों द्वारा हनुमान की पूंछ को तेल में डूबे हुए कपड़ों से बाँधकर कौतुक करने का वर्णन हुआ है। (२) कै-कै, दै-दै, ठौर-ठौर

बोरि-बोरि, खोरि-खोरि में पुनरुक्ति प्रकाश, । (३) अन्तिम पंक्ति में संदेहपुष्ट उत्प्रेक्षा । (४) 'घनाक्षरी' छन्द ।

(२) वालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानो,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है ।
कैधों व्योम वीथिका भरी हैं भूरि धूम केतु,
वीर रस वीर तरवारि सी उधारी है ॥
तुलसी सुरेस चाप कैधों दामिनी कलाप,
कैधों चली मेरु तें कृसानु सरिभारी है ।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहै,
"कानन उजार्‌यो अब नगर प्रजारी है" ॥५॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यांश "भक्तकवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'सुन्दरकाण्ड' से अवतरित है ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश में हनुमान द्वारा लंका के जलाये जाने की घटना का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया गया है ।

व्याख्या—अग्नि की ज्वालाओं से भरी हुई हनुमानजी की विशाल पूंछ ऐसी प्रतीत होने लगी मानों लंका को निगलने के लिए काल ने अपनी जिह्वा को फैलाया हो अथवा आकाश-मार्ग में अनेकों धूमकेतु भरे हुए हों, अथवा फिर वीररस रूपी वीर ने म्यान से तलवार को बाहर निकाल लिया हो। तुलसीदास कहते हैं कि यह (हनुमानजी की विशाल पूंछ) इन्द्र धनुष है अथवा बिजलियों का समूह है, अथवा सुमेरु पर्वत से अग्नि की विशाल सरिता (नदी) वह चली है । उसे देखकर समस्त राक्षस और राक्षसनियां घबड़ाकर कहते हैं कि पहले इस वानर ने वाटिका उजाड़ दी अब यह समस्त लंका नगरी को जलाकर भस्म कर देगा ।

विशेष—(१) हनुमान द्वारा लंका जलाने का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है । (२) वीररस वीर में रूपक । (३) तरवारिसी में उपमा । (४) सम्पूर्ण में उत्प्रेक्षा से पुष्ट संदेह । (५) 'घनाक्षरी' छन्द ।

(३) कानन उजार्‌यो तो उजार्‌यो न बिगार्‌यो कछू,
बानर बिचारो बांधि आन्यो हठि हार सों ।
निपट निडरि देख काहू न लख्यो बिसेषि,
दीन्हों न छुड़ाहि कहि कुल के कुठारि सों ॥

छोटे औ बड़ेरे मेरे पूतहू अनेरे सब,
सांपनि सो खेलें मेलें गरे छुरा धार सों।
तुलसी मंदोवै रोइ-रोइ के बिगोवे आपु,
"वारि-वारि कह्यो मैं पुकारि दाढ़ी जार सों।।११।।

सन्दर्भ—प्रस्तुत छंद "महाकवि तुलसीदास" द्वारा रचित 'कवितावली' के 'सुन्दरकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—इस छंद में रावण की पत्नी मंदोदरी हनुमान द्वारा अशोक वन उजाड़ देने तथा लंका जला देने को साधारण वन्दर का काम नहीं बताती है।

व्याख्या—मंदोदरी कहती है कि वन्दर ने अशोक वन को नष्ट कर दिया था तो करने दिया जाता। इससे कुछ बिगड़ थोड़े ही जाता परन्तु इस बन्दर को बलात् वन से पकड़कर लाया गया। उसकी निपट निडरता देखकर भी किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया कि यह कोई साधारण वानर नहीं है। किसी ने भी कुल नाशक मेघनाथ को समझाकर इस वानर को नहीं छुड़ा लिया। मेरे छोटे बड़े सभी पुत्र अज्ञानी हैं। वे साँपों से खेलते है और छुरी की धार पर अपनी गर्दन रखते हैं अर्थात् व्यर्थ ही में अपने प्राणों को विपत्ति में डालते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि मंदोदरी रो-रोकर अपनी दुर्दशा करती हुई कहती है कि मैंने इस दाढ़ीजार मेघनाद से बार-बार मना किया था (परन्तु इसने मेरी बात तनिक नहीं मानी।)

विशेष—(१) वन्दर हनुमान द्वारा लंका जला डालने से दुःखित होती हुई मन्दोदरी प्रायश्चित प्रकट करते हुए कहती है मेरे पति तथा पुत्रों ने हनुमान वानर के वास्तविक रूप को न पहचानकर उसे एक साधारण वन्दर समझा था जो उनकी भूल थी और उसी भूल ने यह सर्वनाश किया। (२) रोइ-रोइ, वारि-वारि में पुनरुक्ति प्रकाश। (३) 'घनाक्षरी' छन्द।

(४) बीथिका बजार प्रति अटनि अगार प्रति,
पंवरि पगार प्रति, बानर बिलोकिए।
अध ऊर्ध बानर बिदिसि दिसि बानर है,
मानहु रह्यौ है भरि बानर तिलोकिए।।
मूंदे आंखि हीय में उघारे आंखि आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को किए।

'लेहु अब लेहु, तब कोऊ न सिखाओ मानो,
सोइ सतराइ जाइ जाहि-जाहि रोकिए' ॥१७॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत छन्द "भक्तिकवि तुलसीदास" द्वारा रचित 'कवितावली' के 'सुन्दरकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द में हनुमान वानर के आतंक से भयभीत लंकावासियों की दशा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—गलियों में, बाजारों में, अटारियों में, घरों में, देहलियों तथा दीवालों पर जहाँ देखिए वहाँ वानर ही वानर दिखलाई देते हैं। नीचे ऊपर दशों दिशाओं में बंदर ही बंदर हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त त्रिलोक बंदरों से भर गया है। आँखें बंद कर लेने पर हृदय में बंदर और आंखे खोलने पर सामने बंदर ही खड़ा दिखलाई देता है। भयभीत होकर जहाँ कहीं भी भागे जाते है वहाँ बन्दर के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता। लोग परस्पर में कहने लगे कि तब हमारा कहना किसी ने नहीं माना। जिसको हम हनुमान जी के पकड़ने से मना करते थे वही चिढ़ जाता था। अब वे ही अपनी करनी का फल भोगेंगे।

विशेष—(१) हनुमान के आतंक का लंकावासियों के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा है कि उन्हें सर्वत्र वही वानर दिखाई देता है। (२) 'भय' की अनुभूति होने से भयानक रस। (३) अनुप्रास की छटा।

(५) राबन सो राजरोग बाढ़त बिराट-डर,
दिन-दिन विकल सकल सुख राँक सों।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न विसोक, ओत पावै न मनाक सो॥
राम की रजाइ तें रसायनी समीर सूनु,
उतरि पयोधि पारि सोधि सरवाक सो।
जातु धान बुट, पुटपाक लंक जात रूप,
रतन, जतन जरि कियो है मृगांक सो॥२५॥

संदर्भ—प्रस्तुत पद्यांश "महाकवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'सुन्दरकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द में रावण रूपी राजयक्ष्मा (तपेदिक) रोग के निदान

की औषधि के रूप में श्रीराम द्वारा पवनपुत्र हनुमान को भेजे जाने का वर्णन है।

व्याख्या—विराट पुरुष के हृदय में रावण रूपी राजयक्ष्मा का रोग बढ़ने लगा, जिससे व्याकुल होकर वह दिन प्रति दिन सुखों से हीन होने लगा। देवता, सिद्धगण और मुनिवृंद सभी रोग को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करके हार गए परन्तु रोग तनिक भी कम न हुआ और न दुख ही मिटा। तब राम की आज्ञा से रसायन विद्या के पवन पुत्र हनुमान ने समुद्र पार उतर करके और लंका रूपी सरवाक को ठीक कर के, राक्षस रूपी बूटियों के रस से, लंका के सोने तथा रत्नों का पुटवाक बनाकर और यत्न पूर्वक उसे जलाते हुए सोने की भस्म नामक रस (राजयक्ष्मा की औषधि को) बना डाला।

विशेष—(१) सांगरूपक अलंकार द्वारा रावण रूपी राजयक्ष्मा के रोग का निदान पवनपुत्र हनुमान को बताया गया है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार राजयक्ष्मा के असाध्य रोग के लिए मात्र सोने की भस्म ही औषधि होती है उसी प्रकार रावण के अत्याचारों का निदान मात्र पवनपुत्र हनुमान थे। (२) *अप्रत्यक्ष रूप से रावण के अत्याचारों का वर्णन हुआ है।* (३) सांगरूपक अलंकार।

(६)

आयो हनुमान प्रान हेतु अंकमाल देत,
लेत पग-धूरि एक चूमत लंगूल है।
एक बूझें बार बार सीय समाचार कहै,
पवन कुमार भो बिगत स्रमसूल हैं।
एक भूखे जानि आगे आनें कंदमूल फल,
एक पूजे बाहुबल तोरि मूल फूल हैं।
एक कहै तुलसी "सकल सिधि ताकि जाके,
कृपा पाथ नाथ सीतानाथ सानुकूल हैं" ॥३०॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यावतरण "गोस्वामी तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'सुन्दरकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द के लंका दहन कर अपनी सेना में लौटे हुए हनुमान का अन्य वानरों द्वारा जो सत्कार किया उसी का यहाँ वर्णन है।

व्याख्या—अपने प्राणों की रक्षा करने वाले हनुमान जी को आया देख समस्त वानरगण उनसे गले मिलने लगे। कोई उनकी पद-रज लेने लगा,

कोई उनकी पूंछ चूमने लगा। कोई उनसे बार-बार सीताजी का समाचार पूंछते हैं। हनुमान यह सब कुछ वर्णन करते हुए अपने परिश्रम की समस्त थकावट और वेदना को भूल जाते हैं। कोई उनको भूखा जानकर कंदमूल फल-फूल आदि उनके सामने लाकर रख देता है। कोई फल-फूल तोड़कर उनकी बलशाली भुजाओं को पूजते है। कोई कहते है करुणा सागर सीतापति रामचन्द्र का जिस पर अनुग्रह होता है उसके समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

विशेष—(१) स्वामी के कार्य को सम्पन्न करने वाले हनुमान की सब साथी तरह-तरह से प्रशंसा एवं आदर-भाव प्रदान करते हैं। (२) स्वामी राम की कृपा का वर्णन है। (३) अनुप्रास की छटा। (४) 'घनाक्षरी' छन्द का प्रयोग।

लंका काण्ड

(१) त्रिजटा कहति बार-बार तुलसी स्वरी सों,
"राधौ बान एक ही समुद्र सातो सोषि है।
सकुल संघारि, जातुधान-धारि, जम्बुकादि
जोगिनी जमाति कालिका कलाप तोषि हैं।
राज दें निवाजि हों बजाइ कै विभीषनै,
बजेंगे व्योम बाजने विबुध प्रेम पोषि हैं।
कौन दसकंध, कौन मेघनाद बापु रो को,
कुंभकर्न कीट जब रामरन रोषि हैं ॥२॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यांश "भक्त कवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में रावण के लंका की त्रिजटा नामक राक्षसी सीता को श्री राम की अद्वितीय वीरता का परिचय कराते हुए कहती है।

व्याख्या—तुलसीदास जी की स्वामिनी सीताजी से त्रिजटा राक्षसी बार-बार कहती है कि श्रीराम एक ही बाण से सप्त सिंधुओं को सुखा देंगे और कुल सहित समस्त राक्षसों के समूह को नष्ट करके शृगाल, गिद्ध, योगिनियों और कालिकाओं के समूह को तृप्त करेंगे। वे डंके की चोट पर विभीषण को राज्य दे उस पर अनुग्रह करेंगे। श्री राम के इस कार्य से आकाश में बाजे बजेंगे और देवतागण प्रेम से पुष्ट बनेंगे। जब श्री राम युद्ध क्षेत्र में क्रोधित

होंगे तब उनके सामने बेचारे रावण और मेघनाथ कौन सी चीज हैं और कीड़े के समान कुंभकर्ण तो किस गिनती मे हैं।

विशेष—(१) श्री राम अद्वितीय वीर हैं ऐसा कहकर त्रिजटा सीताजी को सान्त्वना दिलाती है। (२) अनुप्रास की छटा।

(२) बिपुल बिसाल बिकराल कपि भाल मानो,
काल बहु बेष धरे धाए किए करषा।
लिए सिला सैल साल ताल औ तमाल तोरि,
तोपैं तोप निधि, सुर को समाज हरषा॥
डगे दिगकुंजर कमठ कोल कलमले,
डोले धराधर धारि धराधर धरषा।
तुलसी तमकि चलै, राघौ की सपथ करैं
को करै अटक कपि अटक अमरषा॥६॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यावतरण "महाकवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में श्री राम की वानर सेना के प्रयाण का वर्णन हुआ है।

व्याख्या—असंख्य विशाल और भयंकर रीछ और भालू इस प्रकार दौड़े मानो काल क्रोधित होकर अनेक वेष धारण किए हुए दौड़ रहा हो। हाथों में पर्वत शिलाएँ लेकर साल, ताल और तमाल के वृक्ष तोड़ तोड़कर उन्होने समुद्र को पाट दिया। इससे समस्त देवता-गण हर्षित हो गए। जब बंदरों की सेना चली उस समय दिशाओं के रक्षक हाथी डगमगाने लगे, कच्छप वाराह व्याकुल हो गए। पर्वत डोलने लगे और शेषनाग भी उसके भार से दब गए। तुलसीदास जी कहते हैं, कि श्री राम की शपथ खाते हुए वे वानरगण क्रोधित होकर चल पड़े। उस क्रुद्ध वानर सेना को भला कौन रोक सकता है? अर्थात् कोई नही।

विशेष—(१) श्री राम की वानर सेना की वीरता एवं भयाकुलता का वर्णन किया गया है। (२) दिग्गजों, कच्छप, वाराह, पर्वत एवं शेषनाग आदि में वानर की सेना के गमन जन्य भय का वर्णन किया गया है। (३) अनुप्रास की छटा।

(३) "तोसों कहौं दसकंधर रे, रघुनाथ विरोध न कीजिए बौरे।
बालि बलि खरदूषन और अनेक गिरे जे जे भीति में दौरे॥

ऐसिअ हाल भई तोहि धौं, नतु लै मिलु सिय चहै सुख जोरे।
राम के रोष न राखि सकैं तुलसी विधि श्रीपति, संकर सौरे ॥१२॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत छंद "गोस्वामी तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में रामदूत अंगद रावण को श्रीराम के प्रति वैर भाव त्याग कर मित्रता करने का उपदेश दे रहा है।

व्याख्या—अंगद कहता है कि हे मूर्ख रावण तू श्रीराम से विरोध मत कर। जो (रामरूपी) दीवार पर दौड़े अर्थात् बलवान वालि, खरदूषण आदि जिन्होंने विरोध ठाना वे ही नष्ट हुए। ऐसी ही दशा तेरी होने वाली है। अतएव यदि तू अपना भला चाहता है तो सीताजी को लेकर श्रीराम से मिल ले। राम के क्रोध से सैकड़ों ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते।

विशेष—(१) 'भीति' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। 'भीति' से यहाँ आशय राम रूपी भीति से है। (२) अंगद रावण को समझाते हुए कहता है कि उसका हित इसी में है कि वह सीताजी को श्रीराम को भेंट कर दे। (३) अनुप्रास की छटा। (४) श्रीराम को विधि, श्रीपति एवं शंकर से भी महान् बताया है।

(४) रे नीच! मारीच विचलाइ हति ताड़का,
भंजि सिव चाप सुख सबहि दीन्ह्यौं।
सहस दसचारि खल सहित खर दूषणहिं,
पठए जम धाम तैं तउ न चीन्ह्यौ॥
मैं जो कहौं कंत सुनु संत भगवंत सो,
विमुख ह्वै वालि फल कौन लीन्ह्यौ।
बीस भुज सीस दस खीस गे तबहि;
जब ईस के ईस सों वैर कीन्ह्यौ ॥१८॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यावतरण "महाकवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से अवतरित है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में अंगद रावण को समझाते हुए कह रहा है।

व्याख्या—जिन्होंने कि नीच मारीच को भी बाण द्वारा समुद्र पार फेंक

दिया। ताड़का का जिन्होंने वध किया, शिव धनुष तोड़कर सबको आनंदित किया। चौदह सहस्र राक्षसों की सेना सहित खर दूषण को जिन्होंने यमलोक पहुँचा दिया, हे नाथ तब भी आपने उन्हें नहीं पहचाना। हे स्वामी मैं जो कुछ कहता हूँ। उसे सुनो। उन भगवान राम से विरोध करके भला बालि ने कौन-सा अच्छा फल प्राप्त किया अर्थात् वह भी मृत्युगामी हुआ। तुमने जिस दिन शिवजी के स्वामी श्रीराम से शत्रुता मोल ली उसी दिन ही तुम्हारे दस सिर और बीस भुजाएँ सब नष्ट हो गईं।

विशेष—(१) श्रीराम के वीरतापूर्ण कार्यों को बताकर अंगद रावण के सामने उनकी वीरता का वर्णन कर रहा है। (२) मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि रावण सेना के दुर्घर्ष एवं मायावी योद्धाओं का वध श्रीराम द्वारा दिखा कर उनकी श्रेष्ठ वीरता का वर्णन अंगद करना चाहता है। (३) 'ईस के ईस' से आशय यह है कि श्रीराम 'शिव' से भी महान् थे। (४) अनुप्रास की छटा।

(५) कानन उजारि, अच्छमारि धाकि धूर कीन्हीं,
नगर पजार्यो सो बिलोक्यो बल कीस को।
तुम्हें विद्यमान जातुधान-मण्डली में कपि
कोपि रोप्यो पाँव, सो प्रभाव तुलसीस को॥
कंत सुन मंत कुल अंत किए अंत हानि,
हातो कीजै हीय तें भरोसो भुज बीस को।
तोलौ मिलु वेगि जों लो चाप न चढ़ायो राम,
रोषि बान काढ़्यो न दलैया दस सीस को॥२२॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यांश "भक्त कवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में रावण पत्नी मन्दोदरी रावण को समझाते हुए कह रही है।

व्याख्या—तुमने उस बंदर के बल को तो देख ही लिया जिसने कि तुम्हारे वन को उजाड़ दिया तथा अक्षयकुमार समेत सेना को धूल में मिला दिया और नगर को जलाकर भस्म कर दिया। दूसरे इस बंदर ने राक्षसों की भरी मण्डली में तुम्हारे विद्यमान होते हुए भी क्रोधित होकर के अपना पाँव रोप दिया, वह भी श्री राम का प्रभाव था। हे स्वामी तुम मेरी सम्मति मानो,

कुल के नाश होने से अंत में हानि ही है। अतः अपने हृदय से बीस भुजाओं और दस सिर के बल का भरोसा त्याग दीजिए। जब तक राम तुम्हारे दसों सिरों का छेदन करने वाले सर का धनुष पर क्रोधित होकर संधान न करे उससे पहले ही शीघ्रता करके उनसे मित्रता कर लो।

विशेष—(१) रावण पत्नी मन्दोदरी श्री राम के अलौकिक रूप को पहचानती है तभी तो वह अपने पति से श्री राम से वैर त्यागने का अनुरोध करती है। (२) मन्दोदरी रावण को यह ही उपदेश देती है कि दस शीश और बीस भुजा का गर्व मत करो। (३) अनुप्रास की छटा।

(६) रजनीचर मत्तगयंद घटा विघरै मृगराज के साज लरैं।
झपटे भट कोटि मही पटकै, गरजै रघुवीर की सौंह करैं।
तुलसी उत हांक दसानन देत, अचेत में वीर को धीर धरैं।
विरूझो रन मारुत को विरुदैत, जो कालहु काल सों बूझि परै॥३६॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यांश "भक्त कवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से उद्धृत हैं।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में श्रीराम और रावण के युद्ध के मध्य पवनपुत्र हनुमान के अद्वितीय शौर्य का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—राक्षस रूपी हाथियों के समूह को नाश करते हुए हनुमानजी सिंह के समान लड़ने लगे। श्री राम की शपथ खाकर गर्जना करते हुए उन्होंने झपट कर करोड़ों योद्धाओं को धराशायी बना दिया। तुलसीदास जी कहते हैं कि उधर रावण ललकारने लगा, जिसकी गर्जना सुनकर श्री राम के पक्ष के वीर अचेत हो गए और सबने अपना धैर्य खो दिया। पवन के यशस्वी पुत्र हनुमान युद्ध भूमि में इस तरह भिड़ गए कि वे काल को भी काल जान पड़ने लगे।

विशेष—(१) पवनपुत्र हनुमान की अद्वितीय वीरता का वर्णन हुआ है। (२) कालहु काल सौं बूझि परै—में हनुमान की शूरता का बड़ा ही भावग्राही विचार हुआ है। (३) प्रथम चरण में परम्परित रूपक, सम्पूर्ण में अनुप्रास की छटा।

(७) जो दस सीस महीधर ईस को बीस भुजा खुलि खेलन हारो।
लोकप दिग्गज दानव देव सबै सहमैं सुनि साहस भारो॥
वीर बड़ो बिरु दैत बली अजहूँ जग जानत जासु पँवारो।
सो हनुमान हनी मुठिका गिरिगो गिरिराज ज्यों गाज को मारो॥३८॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत छंद "महाकवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से अवतरित है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में रावण एवं पवनपुत्र हनुमान के द्वन्द्व युद्ध का वर्णन हुआ है।

व्याख्या—जो दश सिर वाला रावण अपनी बीस भुजाओं से महादेवजी के पर्वत कैलाश को उठाकर स्वच्छदता पूर्वक खेलने वाला है। जिसके अतुल साहस को सुनकर लोकपाल, दिग्पाल, देव, राक्षस भयभीत हो गए हैं। जो बड़ा वीर, बली और यशस्वी है और जिसके यश की विशाल गाथा अब भी संसार में प्रकाशमान है। वही रावण हनुमानजी के मुष्टिका (मुट्ठी) प्रहार से उसी तरह गिर गया जैसे वज्र के प्रहार से विशाल पर्वत गिर जाता है।

विशेष—(१) प्रथम तीन चरणों में रावण की दिगन्त व्यापी वीरता का वर्णन हुआ है। (२) अंतिम चरण में हनुमान की अद्वितीय वीरता का वर्णन हुआ है। (३) गिरिराज ज्यों गाज को मारो—में उपमा अलंकार (४) दिग्गज दानव देव, वीर बड़ो विरुदैत बली—में वृत्यानुप्रास अलंकार।

(८) हाथिन सों हाथी मारे, घोरे-घोरे सों संहारे,
रथनि सों रथ बिदरनि, बलवान की।
चंचल चपेट चोट चरन चकोट चाहें,
हहरानी फौजें भहरानी जातु धान की॥
बार-बार सेवक सराहना करत राम की,
तुलसी सराहैं रीति साहेब सुजान की।
लांबी लूम लसत लपेट पटकत भट,
देखौ देखौ लखन ! लरनि हनुमान की॥४०॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यावतरण "भक्तकवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से उद्धृत हैं।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में श्रीराम लक्ष्मन से हनुमान की वीरता का वर्णन करते हुए कहते हैं।

व्याख्या—हनुमानजी ने हाथियों का संहार किया, घोड़ो को घोड़ों से मार डाला, और रथों को रथों से ही टकराकर विदीर्ण कर दिया। बलवान हनुमानजी के चंचल हाथों के थप्पड़ों की चोट तथा पैरों से मांस नोंचना देखकर राक्षसों की सेना भयभीत होकर भागने लगी। श्रीराम बार-बार

सेवक हनुमानजी की रण चातुरी की सराहना करते हुए कहने लगे कि लक्ष्मण, हनुमानजी का रण कौशल देखो। वे अपनी लम्बी पूंछ में लपेटकर बड़े-बड़े योद्धाओं को पटकते हुए कैसे शोभायमान हो रहे हैं। तुलसीदास जी भी अपने स्वामी की भक्त वत्सलता की रीति की सराहना करते हैं।

विशेष—(१) हनुमान की अद्वितीय वीरता का वर्णन किया गया है। (२) श्रीराम अपने दास की वीरता देखकर अत्यन्त आनन्दित हो रहे हैं। (३) तीसरी पंक्ति में—वृत्यानुप्रास की छटा। (४) सातवीं पंक्तियों में भी वृत्यानुप्रास की छटा।

(६) अंग-अंग दलित ललित फूले किसुक से,
हने भट लाखन लखन जातु धान के।
मारि कै पछारि कै उपारि भुजदंड चंड,
खंड-खंड डारे ते विदारे हनुमान के॥
कूदत कवंध के कदंब वंब सी करत,
धावत दिखावत हैं लाघौ राघौ वान के।
तुलसी महेश, विधि, लोकपाल, देव गन,
देखत विमान चढ़े कौतुक मसान के॥४८॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत छंद "गोस्वामी तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से उद्धृत है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में रावण एवं राम के युद्ध का सजीव वर्णन किया गया है।

व्याख्या—रावण के लाखों राक्षसगण जिनका अंग-अंग घायल है और रक्त से भरे होने के कारण पलास के फूल की तरह दृष्टिगत होते हैं वे सब लक्ष्मण द्वारा मारे गए हैं। हनुमानजी ने भी कुछ वीरों को मारकर, कुछ को पछाड़कर और किसी की विशाल भुजाओं को उखाड़कर और बहुतों को खंड-खंड करके विदीर्ण कर दिया है। जो कवंधों का समूह वंब की शब्द ध्वनि करता हुआ कूदता, और दौड़ता फिरता है वह श्री राम के रणचातुर्य को प्रदर्शित करता है (कहने का तात्पर्य है कि श्री राम इतनी शीघ्रता से युद्ध कर रहे हैं कि वीरों के सिर धड़ से अलग-अलग होकर नाचते फिर रहे हैं।) तुलसी दास जी कहते हैं कि उस समय शिवजी, ब्रह्मा, लोकपाल और देवता गण अपने विमानों पर चढ़-चढ़ कर रणभूमि के कौतुक देखते हैं।

विशेष—(१) लक्ष्मण एवं हनुमान की वीरता का वर्णन हुआ है। (२) श्री राम के रण चातुर्य का भी वर्णन हुआ है। (३) शिव, ब्रह्मा एवं अन्य देवगण अपने-अपने विमानों पर चढ़कर रण क्षेत्र के कौतुकों को देख रहे हैं। (४) प्रथम चरण में उपमा अलंकार। (५) सम्पूर्ण में अनुप्रास की छटा।

(१०) मानी मेघनाद सो प्रचारि भारी भिरे भट,
आपने अपन पुरषारथ न ढील की।
घायल लखन-लाल लखि बिलखाने राम,
भई आस सिथिल जगन्निवासी ढील की॥
भाई को न मोह, छोह सीय को न; तुलसीस,
कहैं "मैं विभीषन की कछु न सबील की।
लाज बाँह बोले की, नेवाजे की सँभार सार
साहेब न राम से बलैया लेऊँ सील की॥५२॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्यावतरण "भक्तकवि तुलसीदास" प्रणीत 'कवितावली' के 'लंकाकाण्ड' से लिया गया है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य में भगवान श्री राम की भक्त वत्सलता का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—बड़े-बडे पराक्रमी योद्धा ललकारते हुए अभिमानी मेघनाद से भिड़ गए। उन्होंने अपने बल और पराक्रम में भी कमी नहीं दिखाई। लक्ष्मण की घायल अवस्था को देखकर राम बिलख-बिलखकर रोने लगे और उनके हृदय की समस्त आशाएँ शिथिल हो गईं। तुलसी के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी को नतो भाई का ही मोह था, न सीताजी के वियोग का ही दुख था। वे यही कर रहे थे कि मैं विभीषण के लिए कुछ भी व्यवस्था नहीं कर सका। तुलसी दास जी कहते हैं कि जिनको अपनी शरण में लेनें की और उस शरणागत की रक्षा करने की लाज है, ऐसे रामचन्द्र जी के कोई भी स्वामी नहीं। उनके शील स्वभाव पर मैं न्यौछावर होता हूँ।

विशेष—(१) राम-रावण युद्ध की भयानकता का वर्णन हुआ है। (२) लक्ष्मण के घायल हो जाने पर राम की विह्वलता का वर्णन हुआ है। (३) श्री राम को न अपने भाई का मोह था और न सीता के वियोग का उनको तो सबसे अधिक चिन्ता अपने शरणागत भक्त विभीषण की है (४) श्री राम के उदात्त शील का वर्णन हुआ है। (५) अनुप्रास की छटा।

। हुए उनके ग्रन्थों का परिचय

तुलसीदास के विषय में अभी तक
र, जन्म स्थान पितृवंश आदि
ही है कि अन्य महात्माओं को
विषय में कहीं कुछ स्पष्ट नहीं
ी हुई सामग्री अवश्य मिलती है
परवर्ती लेखकों की रचनाओं के
में प्रकाश डालने का प्रयत्न

क्रमी को मानते हैं और कुछ
ही विद्वानों द्वारा ठीक मानी
न्म स्थान राजापुर, हाजीपुर,
य स्थानों को न मानते हुए अब
[illegible] मतभेद केवल सोरों तथा राजापुर के विषय में ही है। अभी तक विद्वान मानते रहे कि तुलसीदास राजापुर के रहने वाले सरयूपारीय ब्राह्मण थे पर इधर कुछ समय से सोरों को जन्म स्थान मानने के पक्ष में प्रबल प्रमाण दिये जाने लगे हैं, किन्तु अभी इस विषय में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

तुलसीदास जी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए यह सभी मानते हैं किन्तु कोई इन्हें सरयूपारीय ब्राह्मण, कोई कान्यकुब्ज ब्राह्मण मानता है और अब सोरों को जन्म स्थान मानने के साथ इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण भी मानने लगे हैं। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे तथा माता का नाम हुलसी था। जनश्रुति के अनुसार अभुक्त मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण तुलसीदास माता पिता द्वारा परित्यक्त कर दिये थे। अतः इनका बचपन बहुत दुःख में व्यतीत हुआ। इन्हें रोटियों तक के लिए दर-दर ठोकरें खानी पड़ीं। तुलसीदास का पालन-पोषण बाबा नरहरदास जी के संरक्षण में हुआ जिन्होंने सूकर क्षेत्र में तुलसी को राम कथा सुनाई। इनके बचपन का नाम रामबोला था जो आगे चलकर तुलसीदास में बदल गया।

इनका विवाह दीनबंधु पाठक की सुन्दर कन्या रत्नावली से हुआ जिसके तारक नामक एक पुत्र भी हुआ जो बचपन में मर गया था। कहते हैं कि तुलसीदास अपनी पत्नी पर अत्यधिक अनुरक्त थे। एक बार इनकी अनुपस्थिति में इनकी पत्नी पिता के घर चली गई तो वे भी उसके वियोग को सहन न करते हुए रात्रि में उसके यहाँ पहुँचे तो इनकी स्त्री में इनको कहा—

लाज न लागति आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक्‌धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चरममय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
ऐसी जो कहुँ राम महँ, होत न तो भवभीति॥

इस फटकार को सुनकर तुलसी रामभक्ति के मार्ग में आये और ये घर छोड़कर चल दिये। इन्होंने अनेक स्थानों चित्रकूट, काशी, अयोध्या आदि का पर्यटन किया। इनके जीवन का अधिक समय काशी में व्यतीत हुआ और इनका देहांत भी वहीं पर हुआ इन्हें वृद्धावस्था में बाहु पीड़ा का सामना करना पड़ा जिसके शमन के लिए गोस्वामी ने अनेक प्रयत्न किये। इसके लिए इन्होंने हनुमान, शिव और राम की स्तुति की। इस पीड़ा के थोड़े समय पश्चात् ही सम्वत् १६८० में काशी में अस्सीघाट पर इस युग प्रवर्तक महा-पुरुष का स्वर्गवास हो गया।

इन्होंने अपने पर्यटन और वैराग्य काल में अनेक मित्र भी बनाये थे। काशी में गंगाराम ज्योतिषी से इनकी मित्रता हो गई। कहा जाता है कि इन्हीं गंगाराम के लिए उन्होंने अपने एक ग्रन्थ 'रामज्ञाप्रश्न' की स्थापना की। दूसरे इनके मित्र टोडर कहे जाते हैं जिनकी मृत्यु पर इनके उत्तराधिकारियों का झगड़ा स्वयं तुलसीदास ने एक पंचायतनामा द्वारा निपटाया था। तीसरे अब्दुर्रहीम खानखाना से इनकी मित्रता थी ही। आमेर के राजा मानसिंह भी इनके मित्र थे और वे कई बार गोस्वामी से मिलने आये थे। मीराबाई से भी इनका परिचय था। सूरदास और केशवदास से भी इनकी भेंट होना बताया जाता है।

रचनाएँ—तुलसीदास के नाम पर अनेक ग्रन्थ कहे जाते हैं किन्तु पं० रामगुलाम द्विवेदी केवल १२ ग्रन्थ मानते हैं जिनमें छः बड़े और छः छोटे हैं। काशीनागरी प्रचारणी सभा ने भी इन्हीं १२ ग्रन्थों को प्रमाणिक माना है। (१) दोहावली—इसमें नीति, भक्ति, नाम महात्म्य, राम-महिमा विषयक

५७३ दोहे हैं। (२) **कवितावली**—इसमें कवित्त, सवैया, छप्पय आदि ३२५ छन्द हैं। राम कथा का वर्णन सात कण्डों में है पर कथा क्रमबद्ध नहीं है। (३) **गीतावली**—इसमें ३२८ पद हैं और इसमें भी रामकथा का विभाजन ७ काण्डों में है। (४) **श्रीकृष्ण गीतावली**—इसकी रचना भी गीतावली की तरह राग-रागनियों में है। पदों की संख्या ६१ है जिनमें कृष्ण की कथा गाई है। (५) **विनय-पत्रिका**—यह राग रागनियों में विनय सम्बन्धी पदों का संग्रह है। (६) **रामचरितमानस**—यह गोस्वामी जी का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें रामकथा सात काण्डों में है। यह ग्रन्थ प्रधान रूप से दोहा चौपाइयों में है। इसका रचना काल सम्वत् १६३१ माना जाता है। (७) **रामलला नेहछू**—इसमें राम का नेहछू वर्णित है। केवल २० छन्द हैं। (८) **वैराग्य संदीपनी**—इसमें संत महिमा, संत स्वभाव, शान्ति का वर्णन दोहा और चौपाइयों में है। (९) **बरवै रामायण**—इसमें ३९ बरवै छंदों में रामकथा का वर्णन है। (१०) **पार्वती मंगल**—इसमें १६४ छंदों में शिव पार्वती का विवाह वर्णित है। (११) **जानकी मंगल**—इसमें २१६ छंदों में सीता राम के विवाह का वर्णन है। (१२) **रामाज्ञाप्रश्न**—इसमें सात सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक हैं और प्रत्येक सप्तक में सात दोहे हैं। इससे सगुन विचारा जाता है। इन उपरोक्त १२ ग्रन्थों में प्रथम ६ बड़े ग्रन्थ हैं और बाकी ६ छोटे ग्रन्थ हैं।

प्रश्न २—'कवितावली' का रचना काल बताते हुए उसके वर्ण्य-विषय पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—कवितावली का रचना काल—कवितावली तुलसीदास की श्रेष्ठ रचनाओं में से है। रामचरितमानस की तरह यह प्रबन्ध काव्य न होकर मुक्तक रचना है और रामकथा सम्बन्धी स्फुट छंदों का संग्रह मात्र है। कवितावली की रचना तिथि भी अज्ञात है। श्री वेणी माधवदास ने 'कवितावली' नामक ग्रन्थ का न तो कहीं निर्देश ही किया है और न उसकी रचना तिथि पर ही कुछ प्रकाश डाला है। 'गोसाईं चरित' के ३५ वें दोहे में अवश्य उन्होंने तुलसीकृत कुछ कवित्तों की रचना का संकेत किया है—

सीता वट पर तीन दिन बसि सुकवित्त बनाय।
बंदि छोड़ा बन विध नृप, पहुँचे काशी जाय॥

सीता वट के नीचे इन कवित्तों का रचना काल १६२८ और १६३१ के बीच में है। वेणी माधवदास के अनुसार इन कवित्तों की रचना 'गीतावली'

के वाद और मानस से पूर्व की है। 'कवितावली' के अध्ययन से यह भी निश्चित है कि इस काल के पश्चात् भी कवितावली के कुछ कवित्तों की रचना की गई है। कारण स्पष्ट है कि कवितावली में 'मीन की सनीचरी' का वर्णन है। 'मीन की सनीचरी' का समय १६६६ से १५७१ माना गया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि कवितावली सम्यक् ग्रन्थ के रूप में न होकर समय-समय पर रचित कवित्तों का संग्रह मात्र है। गोस्वामी जी की कृतियों का समस्त रचना काल सम्वत् १६११ से सम्वत् १६८० तक माना जाता है। शैली की दृष्टि से कविनावली के छन्दों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि काव्य रचना के प्रारम्भिक रचना काल में कवि ने कविलावली के किसी छंद का प्रणयन नहीं किया है। कवितावली की रचना शैली माध्यमिक और उत्तर माध्यमिक ज्ञात होती है। यदि हम प्रारम्भिक रचनाकाल के लिए पन्द्रह वर्षों का समय माने तो माध्यमिक और उत्तर माध्यमिक रचनाकाल सं० १६२६ से १६८० तक के लगभग होता है। 'कवितावली' के सम्पूर्ण छंदों की रचना भी इसी विस्तृत समय में हुई है।

कवितावली का वर्ण्य विषय—सात काण्डों में कवितावली का विभाजन इस प्रकार है (१) वालकाण्ड (२) अयोध्या काण्ड (३) अरण्य काण्ड (४) किष्किंधा काण्ड (५) सुन्दर काण्ड (६) लंकाकाण्ड (७) उत्तर काण्ड। वाल-काण्ड के प्रारम्भिक सात दुर्मिल सवैयों में राम के वाल रूप का हृदयग्राही वर्णन है। तदनंतर सीता स्वयंवर का चित्रण है। राम द्वारा धनुर्भंग तथा सीता विवाह अत्यंत संक्षेप रूप में वर्णित है। इसके वाद अयोध्या काण्ड प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ के प्रथम छंद में राम वन गमन का संकेत है, तदनंतर राम-केवट संवाद वनवासी राम और सीता के स्वरूप का वर्णन है। अरण्य काण्ड में केवल एक छंद है जिसमें 'हिम कुरंग' के पीछे श्रीराम दौड़े हैं। किष्किंधा काण्ड में भी केवल एक छंद है, जिसमें हनुमान द्वारा सागर पार उतरने का उल्लेख मात्र है, इसके वाद आता है सुन्दरकाण्ड। यद्यपि सुन्दर-काण्ड कथावस्तु की दृष्टि से महत्त्वहीन है, परन्तु रस की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। भयानक और रौद्ररस की जैसी उत्कृष्ठ व्यंजना इस काण्ड में है वैसी 'मानस' में नहीं है। घनाक्षरी छंदों की सहायता से लंका दहन का बड़ा सजीव वर्णन किया है। सुन्दरकाण्ड के वाद लंकाकाण्ड आता है। इसमें भी कथा व्यवस्थित रूप से नहीं है। अंगद और मंदोदरी द्वारा दिया गया रावण

को उपदेश कुछ विस्तार रूप में है। इसके बाद युद्ध वर्णन है। राम का युद्ध संक्षेप में वर्णित है परन्तु हनुमान का युद्ध वर्णन विस्तार से है। इस प्रकार लंकाकाण्ड की समाप्ति के साथ-साथ राम-कथा की समाप्ति हो जाती है।

उत्तरकांड 'कवितावली' का सबसे बड़ा कांड है। राम कथा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है वरन् राम गुण महिमाज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि विषयों को लेकर स्फुट छंद है। कुछ छंदों के विषय काशी, प्रयाग, गंगा, शिव-पार्वती स्तुति, मूर्ति-पूजा, कलियुग, सीतावट, पंचमढ़ी, चित्रकूट, मीन की सनीचरी, रुद्रावली का अपार संहार आदि हैं। तीन छंदों में इन्होंने 'भ्रमरगीत' भी लिखा है।

इस कांड में तुलसीदास ने अपनी आत्म चरित्र सम्बन्धी सुन्दर सामग्री भी हमें प्रदान की है। तुलसी की समस्त कृतियों में यही कांड एक प्रधान साक्ष्य है, जिसमें तुलसी के जीवन की घटनाओं का यथेष्ठ परिचय प्राप्त होता है। कई छंदों में उन्होंने अपनी बाल्यावस्था का और दरिद्रता का हृदय-द्रावक दृश्य खींचा है। इस प्रकार आत्मग्लानि के वशीभूत होकर कवि ने अज्ञात रूप से अपने जीवन की अनेक बातें लिखी हैं। फलतः कवितावली का यह अंश कथा-दृष्टि से अवांछनीय होते हुए भी आत्म-चरित्र की दृष्टि से अवश्य श्लाघनीय है।

उत्तरकांड के कुछ छंदों द्वारा तुलसीदास जी ने तत्कालीन सामाजिक दशा एवं परिस्थितियों का बड़ा सजीव और सच्चा चित्रण किया है। किसान मजदूरों दैन्य दशा, सामान्य जनता का धार्मिक वितंडावाद, पेट की हाय-हाय इन सब बातों को तुलसी ने काव्य में स्पष्ट और मूर्त्त रूप दिया है। इस दृष्टि से तुलसी के निम्न छंद बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) किसबी किसान कुल-बनिक भिखारी भाट,
चाकर, चपल नट, चोर जार चेट की।
पेट को पढ़त गुन गढ़त चढ़त गिरि,
अटत गहन-बहन अहन अखेट की॥
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।
तुलसी बुझाइ एक राम घन श्याम ही तें,
आगि बढ़वागि ते बड़ी है आग पेट की॥

(२) खेती न किसान को, भिखारी को न भीख वलि
वनिक को वनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच वस,
कहैं एक एकन सौं कहाँ जाय का करी॥
वेद हूँ पुरान कही लोकहु विलोकियत,
सांकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी।
दारिद दसासन दवाई दुनी दीन वंधु।
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी॥

प्रश्न ३—'कवितावली' किस कोटि का काव्य है? सिद्ध कीजिए।

अथवा

'कवितावली' एक मुक्तक काव्य है, सिद्ध कीजिए।

उत्तर—कवितावली को देखकर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह एक सम्यक् ग्रन्थ न होकर स्फुट एवं मुक्तक छंदों का संकलन मात्र है। समय-समय तुलसीदास जी ने जो लिखा है उसी का संकलन तुलसीदास के किसी शिष्य द्वारा वाद में कर दिया गया है। कवितावली के मुक्तक ग्रन्थ होने के अनेक स्पष्ट प्रमाण हैं। सर्वप्रथम कवितावली में मंगलाचरण सम्वन्धित एक भी छन्द नहीं है। यह उसी समय सम्भव है जव कि कविताएँ समय-समय पर स्फुट रूप से लिखी गई हों, अन्यथा रामचरित मानस के प्रत्येक काण्ड में मंगलाचरण देने वाले तुलसीदास जी कम से कम कवितावली के प्रारम्भ में तो मंगलाचरण अवश्य ही देते।

इसके अलावा कवितावली में न तो नियमित रूप से राम कथा का विस्तार ही है और न कथा का काण्डों में नियमित रूप से विभाजन ही है। अरण्य काण्ड और किष्किधा काण्ड तो केवल एक दो छंद द्वारा समाप्त कर दिए गए हैं। मंगलाचरण की भाँति प्रस्तावना और पूर्व कथा का भी कवितावली में अभाव है। उत्तर-काण्ड से कथा का कोई भी सम्वन्ध नहीं है। इसमें व्यक्तिगत घटनाएँ तत्कालीन परिस्थितियों और विविध भावों के छंद संगृहीत हैं। राम कथा सम्बन्धी अनेक प्रमुख घटनाओं का कवितावली में उल्लेख मात्र तक नहीं है। अहल्योद्धार, कैकयी-दशरथ संवाद, विश्वामित्र आगमन आदि प्रसंगों का अभाव इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। धनुर्भंग का वर्णन केवल एक छंद में वर्णित है। लंका युद्ध के पश्चात् राज्याभिषेक और भरतमिलाप आदि का कोई उल्लेख

नहीं है। यही नहीं कवितावली में अनेक बातों की उसी प्रकार पुनरावृत्ति है, जिस प्रकार कि 'सूर के सागर में' एक ही बात को अनेक पदों में दुहराया गया है।

कवितावली के मुक्तक रचना होने का एक और प्रबल प्रमाण है और वह है कवितावली के उत्तर काण्ड का अत्यंत विस्तार पूर्वक होना। कवितावली के शेष छः काण्ड मिलकर भी इस उत्तरकाण्ड की समानता नहीं कर पाते। इस काण्ड में अनेक ऐसे स्फुट छंदों का संकलन है जिनका कि राम कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। सीतावट, काशी, कलियुग की दशा, रामस्तुति, गोपिका उद्धव सम्बन्ध, बाहुपीर, हनुमान स्तुति, सीता स्तुति प्रभृति ऐसे ही स्वतंत्र संदर्भ हैं। इस प्रकार कवितावली पूर्णतः मुक्तक रचना है।

प्रश्न ४—'कवितावली' के रसनिरूपण पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

उत्तर—कवितावली में रस—तुलसी रससिद्ध कवीश्वर हैं। उनके हृदय से प्रणीत प्रत्येक पंक्ति में रस चमत्कार विद्यमान है। उनकी कृतियों में सभी रसों का सफल निर्वाह है। कवितावली इसका अपवाद नहीं। अन्य कृतियों की भाँति इसमें भी कवि ने सभी रसों के सुन्दर विधान द्वारा अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है।

कवितावली में प्रधानतः राम के ऐश्वर्य और शौर्य का अधिक वर्णन किया गया है। ऐश्वर्य के साथ कवि ने राम के अतुल सौन्दर्य का भी निरूपण किया है। फलतः जहाँ राम का ऐश्वर्य और शौर्य, वीर तथा रौद्र रस का रूप लेकर कवितावली में प्रणीत हुआ है वहीं श्रृंगार रस राम के सौन्दर्य का द्योतक बनकर आया है। उत्तरकाण्ड के भक्ति मूलक पद शांत रस की ओर उन्मुख हुए हैं। इस प्रकार कवितावली में वीर रस, रौद्र रस, श्रृंगार रस और शांतरस को प्रधानता मिली है। अन्य रस गौण रूप में आये हैं।

(१) श्रृंगार रस—तुलसी का श्रृंगार सदैव मर्यादित रहा है, कवितावली में भी यही बात है। कवितावली में श्रृंगार को लेकर बड़े सुन्दर छंदों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए रामसीता विवाह का प्रसंग लीजिए। विवाह के अवसर पर राम सीता वरवधू रूप में जुआ खेल रहे हैं। राम प्रत्येक बार विजय प्राप्त कर लेते हैं। कारण स्पष्ट है। सीता जुए के खेल में आगे हाथ ही नहीं बढ़ाती। उसे डर है कि कहीं आगे हाथ बढ़ाने से कंगन के नग

में पड़ता हुआ राम का प्रतिविम्ब जिसे सीताजी की आँखें एकटक निरख रही थीं विलुप्त न हो जाय। इसी विषय को लेकर कवि कहता है—

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर मांहीं।
गावहिं गीत सबै मिलि सुन्दरि, वेद जुआ जुरि विप्र पढ़ाहीं।
राम को रूप निहारति जानकी, कङ्कन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं॥

संयोग शृंगार का ऐसा श्रेष्ठ उदाहरण रस के पारखियों को अन्यत्र कहाँ मिलेगा? रस के चारों अंग इसमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं। यहाँ रति 'स्थायी' राम सीता 'आलंबन' 'नग में पड़ता हुआ राम का प्रतिविम्ब' 'उद्दीपन' राम को एक टक निरखना, कर का स्थिर रखना, जुआ न खेलना आदि अनुभाव 'जड़ता' 'मति' 'हर्ष' आदि 'संचारी भाव' हैं।

कवितावली में संयोग शृंगार का वर्णन दृष्टिगत होता है। विप्रलंभ शृंगार का निरूपण कवितावली में नहीं के बराबर हुआ है।

(२) करुण रस—राम वन गमन पर दशरथ विलाप, सुमित्रा, कौशल्या एवं पुरजन वासियों का शोक सीता का विलाप, लक्ष्मण के बेहोश हो जाने पर राम का विलाप आदि प्रसंगों का उल्लेख न होने के कारण कवितावली में करुण रस का चित्रण अधिक नहीं होने पाया परन्तु जहाँ भी अवसर आया है, करुण का चित्रण करने में तुलसीदास नहीं चूके हैं। निम्न उदाहरण द्वार इसका सजीव उदाहरण है।

पुरतें निकसी रघुवीर वधू धरि धीर दिए मन में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की पुटि सूखि गए मधुराधर वै॥
फिर बूझति हैं, चलिवो अब केतिक, पर्ण कुटी करिहों कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

(३) हास्य रस—कवितावली में हास्य रस का निरूपण केवल एक छंद में हुआ है। परन्तु हास्यरस की यह व्यंजना बड़ी गम्भीर शिष्ट और उत्कृष्ट है। हास्य रस का उच्छृंखल रूप इसमें नहीं है। उदाहरण के लिए देखिए—

विंध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा विनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भै मुनि वृंद सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

हास्य रस की इस व्यंजना के साथ ही साथ राम की महत्ता का प्रतिपादन भी बड़ी कुशलता से किया गया है।

(४) वीर रस—वीर रस के अनेक श्रेष्ठ उदाहरणों से कवितावली भरी पड़ी है। परशुराम-कथन, हनुमान का सागर लंघन, अंगद-कथन, युद्ध आदि प्रसंगों के अवसर पर तुलसी ने वीर रस की उत्कृष्ट व्यंजना की है। अंगद की वीरता का कलापूर्ण वर्णन देखिए—

रोप्यो पांव पैंज कै विचारि रघुबीर वल,
लागे भट सिमिट न नेकु सरकतु है।
तज्यो धरि धीर धरनि, धरनिधर धसकत,
धरा धर धीर भार सहित सकतु है॥
महावली वलि को, दवत दलकति भूमि,
'तुलसी' उछरि सिंधु मेरु मसकतु है।
कमठ कठिन पीठि घट्ठा परो मंदर को,
आयो सोई काम, पै करे जो कसकतु है॥

इसी प्रकार सागर लंघन में हनुमान की वीरता की अभिव्यंजना देखिये—

जव अंगदादिन की मति गति मंद भई,
पवन के पूत को न कूदिवे को पलुगो।
साहसी ह्वै सैल पर सहसा सकेलि आइ,
चितवत चहूं ओर औरन को कलुगो॥
तुलसी रसातल को विकसि सलिल आयौ,
कोल कल मल्यो, अहि कमठ को वलुगो।
चारहु चरन के चपेट चांपि चिपिट गो,
उचके उचकि चारि अंगुल अचलुगो॥

(५) रौद्र रस—रौद्र रस का कवितावली में बड़ा प्रभावशाली चित्रण हुआ है। लंका-दहन तथा युद्ध प्रसंगों में रौद्र रस की उत्कट व्यंजना करते हुए तुलसी ने अपनी प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। उदाहरण के लिए निम्न छंद देखिये—

साजि के सनाह-गजगाह सउछाह दल,
महावली धाये वीर जातुधान धीर के।

इहाँ भालु बन्दर विसाल भेरु मन्दर से,
लिये सैल साल तोरि नीर निधि तीर के ।।
तुलसी तमकि ताकि भिरे भारी, जुद्ध क्रुद्ध,
सेनप सराहे निज-निज भट भीर से ।
रुंडन के झुंड झूमि झुकरे से नाचें,
समर सुभार सूर मारे रघुवीर के ।।

दूसरा उदाहरण परशुराम संवाद से लीजिये—

गर्भ के अर्भक काटन कों पटुधार कुठारु कराल है जाको ।
सोई हों बूझत राजसभा 'धनु को दल्यो', हौं दलि हौं बलु ताको ।
लघु आसन उत्तर देत बड़ो लरि है मरिहै करिहै कछु साको ।
गोरो गरूर गुमान भरयो कहो कौसिक छोटो सो ढोटो है काको ।

(६) भयानक रस—भयानक रस की सृष्टि रौद्र रस के प्रतिक्रिया स्वरूप हुई है । हनुमान के लंका-दहन का उत्कृष्ट वर्णन जैसा भयानक रस द्वारा किया गया है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं । इस दृष्टि से कवितावली का सुन्दर-कांड साहित्य मर्मज्ञों की अपूर्व निधि है । भयानक रस का जैसा वर्णन यहाँ हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है ।

लपटें कराल ज्वाल ज्वालमाल चहूँ दिसि,
धूम अकुलानि पहिचानै को न काहि रे ।
पानी को ललात, बिललात जरे गात जात,
परे पाइ माल जात, "भ्रात तू निवाहि रे ।।
प्रिया तू पराहि नाथ नाथ ! तू पराहि, बाप
बाप तू पराहि, पूत पूत तू पराहि रे ।
तुलसी बिलोक लोग व्याकुल बिहाल कहें,
लेहि दस सीस अब बीस चख चाहि रे ।।
रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी चाहि,
सकैं ना बिलोकि बेप केसरी कुमार को ।
मींजि मींजि हाथ; धुनैं माथ दस माथ तिय,
तुलसी तिलौन भयो बाहिर अंगार को ।।
सब असबाब डाढ़ो, मैं न काढ़ो, ते न काढ़ो,
जिय की परी संभार सहन भंडार को ?"

खीझति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद
"बयो लुनियत सब याही दाढ़ीजार को" ॥

(७) वीभत्स रस—वीभत्स रस का वर्णन युद्ध के स्थल पर हमें मिलता है। केवल एक दो छंदों में ही रस की व्यंजना हुई है, परन्तु वीभत्स रस का जैसा उत्कृष्ट रूप हमें इन छंदों में मिलता है वह अत्यन्त दुष्प्राप्य है—

ओझरि की झोरि काँधे, आंतनि की सेल्ही बांधे,
मूँड़ के कमंडलु खपर किये कोरि कै।
जोगनि झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तरि बैठी सो समर सरि खोरि कै॥
सो नित सो सानि गूदा खात सतु आसी,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
'तुलसी' वैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कै॥

(८) अद्भुत रस—कवितावली में राम के ब्रह्मत्व का वर्णन न होने से अद्भुत रस की व्यंजना अधिक नहीं हुई है। फिर भी कवितावली में अद्भुत रस के संकेत मिलते हैं। हनुमान का पहाड़ हाथ में लिए आकाश मार्ग से अपूर्व वेग के साथ उड़कर जाना अद्भुत रस का एक सुन्दर उदाहरण है—

लीन्हों उखारि पहाड़ विसाल चल्यो तेहि काल विलम्ब न लायो।
मारुत नंदन मारुत को मन को मन को, खगराज को वेग लजायो॥
तीखी तुरा तुलसी कह तो पै हिये उपमा को समाड़ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

(९) शांत रस—कवितावली का समस्त उत्तर कांड शांत रस से ओत-प्रोत है। शांतरस का वर्णन कथा के अन्तर्गत न होकर कवि की व्यक्तिगत एवं स्वतन्त्र भावनाओं का द्योतक है। देवताओं की स्तुति में यह रस प्रधान है। राम की स्तुति और वंदना तो करुणा और दीनता से भरी है।

रावरो कहावों गुन गावों राम राव रोई,
रोटी द्वै हों पावों राम रावरो ही कानि हों।
जानत जहान, मन मेरे हूँ गुमान बड़ो,
मान्यो मैं न दूसरी, न मानत, न मानि हों॥

पाँच की प्रतीति न भरो सो मोहिं आपनोई,
तुम अपनावो हों तबै ही परिजानि हों।
गढ़ि-गुढ़ि छोलि छालि कुन्द कीसी भई बातें
जैसी मुख कहौ तैसी जीय जब आनि हों॥

हृदय की सच्चाई से भरे शांत रस के ऐसे सीधे सादे चित्र भला और कहाँ मिल सकते है।

प्रश्न ५—"कवितावली" में तुलसी ने जिन अलंकारों का प्रयोग किया है, वे सहज रूप में आ गये हैं।" इस कथन को सिद्ध कीजिए।

उत्तर—कवितावली में अलंकार—काव्यशास्त्र के तुलसी पूर्ण पण्डित और ज्ञाता थे। परन्तु कविता के क्षेत्र में उन्होंने अपना पांडित्य प्रदर्शन कहीं नहीं किया। यही कारण है कि अपनी कविता कामिनी को विविध अलंकारों से सजाने और संवारने का प्रयत्न तुलसी की ओर से नहीं हुआ, वरन् अलंकार स्वतः ही तुलसी की कविता में समा गए हैं। तुलसी की यह अलंकार-योजना बड़ी सजीव और मनोरम है। भावों के प्रवाह और रसानुभूति में वाधक न बनकर वे भावों का उत्कर्ष दिखाने तथा वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में अनन्य सहायक बने हैं।

कवितावली में प्रारम्भ से लेकर अंत तक अलंकारों का सहज सौन्दर्य देखा जा सकता है। कहीं-कहीं तो एक ही छंद में अनेक अलंकारों का सुन्दर और सफल समन्वय है और विशेषता यह है कि भावाभिव्यंजना में कहीं वाधा नहीं वरन् रसोद्रेक और भी अधिक तीव्र बन गया है। अलंकारों की वाह्य चमक दमक में खोकर कहीं कविता-कामिनी का आंतरिक सौन्दर्य निष्प्रभ न बन जाय इसका ध्यान तुलसीदास ने सदैव रखा है। यही कारण है कि गोस्वामी जी श्लेष, यमक, मुद्रा अलंकारों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। शब्द श्लेप के उदाहरण हमें तुलसी की सम्पूर्ण कृतियों में चार या पाँच स्थानों पर मिलते हैं। कवितावली में केवल एक उदाहरण शब्द-श्लेप का है—

सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों,
विहूने गुन पथिक पियासे जाते पथ के।

श्लेप की भाँति 'यमक' अलंकार का प्रयोग भी एकाध छंदों में ही हुआ है—

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ पितु काल कराल विलोकि न भागे।
राम कहाँ ? सब ठांइ है, खंभ में ? हाँसुनि हांक नृके हरि जागे॥

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि कवितावली में शब्दालंकार का सौन्दर्य है ही नहीं। सत्य तो यह है कि तुलसी की प्रत्येक रचना की प्रत्येक पंक्ति में अनुप्रासों की मधुर झंकार है। कहीं-कहीं तो तुलसी की रचना में एक ही वर्ण की आवृत्ति सारे चरण में प्रारम्भ से अन्त तक चली गई है। तुर्रा यह कि अनुप्रासों की छटा रसोत्कर्ष को तो बल प्रदान करती ही है वरन् रचना के असाधारण सौन्दर्य का भी कारण बनी है। उदाहरण रूप देखिये—

छोनी में छोनीपति जिन्हें छत्रछाया,
छोनी छोनी छाये छिति आए निमिराज के।

× × × ×

बोले बंदी बिरुद बजाइबर बाजनेउ,
बाजे बाजे बीर बाहु धुनत समाज के।

यह तो हुई शब्दालंकार की बात, अर्थालंकारों में तुलसी को उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप, विभावना, परिकरांकुर, अपन्हुति, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत, प्रशंसा, क्रम, अर्थान्तिरन्यास आदि अलंकार बड़े प्रिय हैं।

इन अलंकारों की सहायता से तुलसी का अप्रस्तुत रूप विधान बड़ा उत्कृष्ट बना है। इसके लिए तुलसी ने कवि परम्परा से चले आए केवल रूढ़िगत अप्रस्तुतों को ही सामने नहीं रखा वरन् नए उपमान और नवीन उद्‌भावनाएँ प्रकाश में लाए हैं, उदाहरण के लिए—

श्रम सीकर सांवरि देह लसैं मनो रासि महातम तारक में।

राम के शरीर पर श्रम की बूँदें इस प्रकार शोभायमान हो रही हैं जैसे घोर निविड़ तम में आकाश के तारे झिलमिला रहे हों। कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है। अप्रस्तुत की सुन्दर योजना से राम के उक्त रूप का सौन्दर्य कई गुना अधिक हो गया है। इसी प्रकार—

सोनित-छींटि छटान जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछवि छूटी
मानो मरक्कत सैल विसाल में फैलि चलीं बर बीर बहूटीं।

युद्ध भूमि में श्रीराम के श्यामल शरीर पर रक्त के छींटे इस प्रकार शोभायमान हो रहे हैं मानो नीलमणि के पर्वत पर बीर बहूटियाँ फैल रही

हैं। इसी प्रकार गंगा-यमुना के संगम की छवि पर कवि ने कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा का विधान किया है—

सोहे सितासित को मिलिबो तुलसी हुलसै हिय हेरि हिलोरे।
मानों हरे तृन चारु चरैं बगरे सुर धेनु के धौल कलोरे॥

सच पूछा जाय तो ऐसी सुन्दर उत्प्रेक्षाओं की कवितावली में भरमार हैं। एक और उदाहरण देखिये—

तुलसी मुदित मन जनक नगर जन,
झांकती झरोखै लागीं सोभ रानी पावतीं।
मनहुँ चकोरि चारु वैठीं निज निज नीड़,
चंद की किरन पीवैं पलक न लावतीं॥

झरोखों से झांकती हुई सुन्दरियां इस प्रकार राम की शोभा को देखकर मुग्ध हो रही हैं मानों चकोरी चन्द्रमा की किरणों का पानकर तृप्त हो रही हों।

उत्प्रेक्षा की भांति सुन्दर उपमाओं की भी बानगी देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए कवितावली का पहला छंद देखिए—

तुलसी मनरंजन रंजित-अंजन-नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से विकसे।

श्रीराम के मुख से चन्द्रमा की ओर अंजन रंजित नयनों से नील सरोरुह की उपमा कितनी सुंदर है। एक और उदाहरण लीजिए—

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे छवि भूरि अनंग की दूरि धरैं॥
दमकैं दतियां दुति दामिनी ज्यों किलकैं कल बाल विनोद करैं।
अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में बिहरैं॥

यहां लुप्तोपमा, पूर्णोपमा, रूपक, प्रतीप आदि अलंकारों का कितना सुन्दर समन्वय है।

उपमा और उत्प्रेक्षा की भांति तुलसीदास ने बड़े सुन्दर रूपक बांधे हैं। सत्यता यह है कि तुलसी के समान रूपक बांधने वाला हिन्दी में अन्य कोई कवि नहीं हुआ। निम्न उदाहरण को देखिए कि किस प्रकार तुलसी ने रूप साहश्य, साधर्म्य और भावों की सफल व्यंजना का सुन्दर समन्वय किया है—

रावन सो राजरोग बाढ़त विराट उर,
दिनदिन विकल सकल सुखरांक सो।

नाना उपचार करि हारे सुरसिद्ध मुनि,
होत न बिसोक, ओत पावै न मनाक सो ।
राम की रजाय ते रसायनी समीर सूनु,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो ।
जातुधान बुट, पुट पाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियौ हैं मृगांक सो ।

लंका पर राम के आक्रमण का समाचार सुनकर इतनी घबड़ाहट हुई, इतनी आशंका फैली कि "बसत गढ़ लंक लंकेस रावन अछल लंक नहिं खात कोउ भात रांध्यौ ।" यहाँ आक्रमण की आशंका को व्यक्त करने में लक्षणा और व्यंजना के मेल से 'विभावना' कितनी सुन्दर फबी है । इसी प्रकार भ्रमालंकार का एक उदाहरण है । हिरन के पीछे भागते हुए श्रीरामचन्द्रजी को पंचशर कामदेव का रूप देने के लिए वे वाणों की गिनती किस प्रकार पूरी करते हैं—

'सर चरिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लैं ।
बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छवि सो बरनै किमिकै ।
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितबै चित्त दैं ।
न डगैं न भगैं जियजानि सिलीमुख पंच धरे रति नायक हैं ।

भ्रमालंकार की भांति अर्थान्तरन्यास का सुन्दर उदाहरण लीजिए ।

तुलसी अब राम को दास कहाइ । हिए धरु चातक की धरनी,
करि हंस को वेप बड़ो सबसौं तजि दे बक बायस की करनी ।

इस छंद में तीनों उपमानों के पक्षी होने में जो साहित्यिक छटा है, वह कितनी सुन्दर है ।

प्रश्न ६—'कवितावली' की भाषा पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए ।

उत्तर—'कवितावली में भाषा—तुलसी की कृतियां ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं में हमें मिलती हैं । इन दोनों भाषाओं पर तुलसी का पूर्ण समानाधिकार था । अपनी अनन्य प्रतिभा के बल पर तुलसी ने अवधी के ठेठ रूप को साहित्यिक सांचे में ढालकर उसे परिष्कृत बनाया और ब्रजभाषा का यह साहित्यिक सौन्दर्य तुलसी की कवितावली में स्पष्ट रूप से लक्षित है ।

कवितावली के प्रारम्भ में ही हमें कोमलकांत पदावली से युक्त समुधुर और संगीतमय भाषा के दर्शन होते हैं । बालकाण्ड के प्रथम पांच छंद उठाकर देखिए, वे स्वतः ही कवितावली के भाषा सौन्दर्य का स्पष्ट प्रमाण देंगे ।

राम के बाल वर्णन को मूर्त्त रूप देने वाली इस भाषा में माधुर्य गुण कूट-कूट कर भरा हुआ है। ब्रजभाषा का जैसा निर्मल और निर्दोष रूप इन छंदों में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। परन्तु तुलसी की प्रतिभा सूर आदि अन्य कवियों की भाँति ब्रज भाषा के मधुर रूप में ही रम कर नहीं रह गई उन्होंने ब्रजभाषा जैसी मधुर और कोमल भाषा के माध्यम से वीर और रौद्र जैसे विषयों की भी उत्कृष्ट व्यंजना की है। वीर, भयानक और रौद्र आदि कठोर भावों की अभिव्यंजना में तुलसी की भाषा बड़ी सशक्त, प्रवाहयुक्त और स्फूर्तिवान है। उसमें ओज गुण सर्वत्र व्याप्त है। विशेषता यह है कि भावाभिव्यंजना में भाषा कहीं भी दुरूह, क्लिष्ट और बौद्धिक व्यापार का कारण नहीं बनी। सर्वत्र उस पर प्रसाद गुण की छाया है। भावों की तीव्रता के कारण भाषा में बल और प्रवाह है, अतएव कवितावली का कोई अंश भाषा की दृष्टि से अरुचि उत्पन्न नहीं करता।

भावों के उत्कर्ष, रसों के उद्रेक एवं भावों की स्पष्ट व्यंजना में तुलसी की भाषा सर्वथा समर्थ है। सत्य तो यह है कि भावों के अनुकूल तुलसी की भाषा ढली है। यही कारण है कि राम के मधुर रूप का वर्णन करती हुई ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली लंका दहन और राम-रावण युद्ध का वर्णन करते हुए अत्यन्त कठोर और सशक्त बन गई है। इस प्रकार तुलसीदास जी की भाषा सर्वथा साहित्यिक है। उसमें सरलता, बोधगम्यता, सौन्दर्य, चमत्कार, प्रसाद, माधुर्य, ओज, प्रभृति समस्त गुणों का समावेश है। कविता में कुछ भी व्यर्थ नहीं है और प्रत्येक शब्द नगीने की भाँति पंक्ति में जड़ा गया है। विन्यास बड़ा प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है। यही कारण है कि तुलसी के वाक्यों में कहीं शैथिल्य नहीं है। एक ही चरण में वे बहुत सी बातें कह जाते हैं फिर भी कहीं शिथिलता नहीं आने पाती, भाषा का रूप सर्वथा व्यवस्थित और स्थिर रहा है।

तुलसी का शब्द सागर इतना विशाल है कि हिन्दी का अन्य कोई कवि इस क्षेत्र में उनकी बराबरी नही कर सकता। संस्कृत, प्राकृत, ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि अनेक भाषाओं में वे प्रकाण्ड पण्डित थे। यही कारण है कि उन्होंने प्राकृत, संस्कृत आदि विविध भाषाओं के हजारों शब्दों का अधिकार पूर्वक प्रयोग किया है। कवितावली में भी विदेशी भाषाओं से लेकर हिन्दी की विभिन्न देशी भाषाओं और बोलियों के शब्दों का निसंकोच प्रयोग हुआ है।

कुछ शब्द तो बहुप्रचलित ग्रहण किए गए हैं, परन्तु कहीं-कहीं अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए अरबी भाषा के हराम, गुलाम, हलक आदि शब्द तो प्रचलित हैं, परन्तु किसन, हबूब आदि अप्रचलित शब्दों का प्रयोग खटकने वाला है। इसी प्रकार फारसी के कागर, दगावाज, नेवाज आदि शब्दों का प्रयोग तो उचित कहा जा सकता है, परन्तु सालिम और खाका प्रयोग कदापि उचित नहीं है। इसी प्रकार वालिश, सरवाक, वेर आदि संस्कृत व्यवहार में न आने वाले शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।

तुलसी की व्रजभाषा पर अवधी का स्पष्ट प्रभाव है। केवल शब्द ही नहीं अधिकांश कहावतें और मुहावरे भी अवधी भाषा से उधार ली गई हैं। उदाहरण के लिए घालि, संजोइल, धारि, वगमेल, खपुआ, संधानों, पंवारो, कलोरे आदि शब्द, खीसजाना, लसम के खसम, आदि मुहावरे तथा खाती दीप मालिका, ठठाइयत सूप है, मसक की वाँसुरी पयोधि पटियतु है।

इसके अलावा तुलसी ने कवितावली की भाषा में अवधी की एक और विशेषता को ग्रहण किया है। जिस प्रकार व्रजभाषा में अकारांत शब्द ओकारांत कर दिये जाते हैं अवधी में अकारांत शब्द उकारांत कर दिये जाते हैं। अवधी की यही प्रवृत्ति हमें कवितावली में यत्रतत्र मिल जाती है।

जव अंगदादिन की मति गति मंद भई।
पवन के पूत को न कूदिवे को पलुगो।

मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रचुर प्रयोग हमें कवितावली में मिलता है। ये मुहावरे और लोकोक्तियाँ केवल व्रजभाषा के ही नहीं वरन् अवधी, बुन्देलखण्डी भाषाओं से भी अपनाए गए हैं। अवधी भाषा के मुहावरे ऊपर दिये जा चुके हैं, बुंदेलखण्डी मुहावरों की वानगी देखिए—गोद के लैं (गोद में लेकर) भांड़ जाना, (घूम-घूम कर देख जाना) सहित समाज गढ़ रांड़ कैसों भांड़ि गो आदि। उत्तर काण्ड में कहावतों आदि मुहावरों का यथेष्ट प्रयोग है। जिस वरवै रामायण में अलंकारों का साहित्यिक सौन्दर्य सामने आया है। कुछ उदाहरण लीजिए 'धोवी को सो कूकर न घर को न घाट को', 'वयो लुनियत सव याही दाढ़ीजार को,' 'काटिए न नाथ विषहू को रुख लाइकें, 'बलवान है स्वान गली अपनी' आदि।

सूर-सुषमा

प्रश्न १—सूरदास का संक्षिप्त जीवन-परिचय देते हुए उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

जीवन-परिचय—सूरदास एवं उनकी कविता का हिन्दी जगत् में प्रमुख स्थान होते हुए भी उनके जीवन का इतिहास अन्धकार के गर्त में डूबा हुआ है। उनकी रचनाओं में मिलने वाले कुछ पद, जनश्रुतियों और वार्ताओं के आधार पर ही इनके जीवन के विषय में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। अपनी कलाकृति 'साहित्य-लहरी' के एक पद में सूर ने अपनी वंशावली का उल्लेख किया है। इसके अनुसार वे जाति के ब्रह्मभट्ट और रासोकार चन्द्रवरदायी के वंशज थे। किन्तु अनेक विद्वान् इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं। कई विद्वान तो 'साहित्य-लहरी' को भी संदिग्धता की दृष्टि से ही देखते हैं।

'सूरसागर', जो इनकी असंदिग्ध रूप से प्रामाणिक कृति है, के अनेक पदों से ज्ञात होता है कि ये अन्धे थे। इनके जन्मान्ध होने का कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वे कवि और अच्छे गायक थे। किसी समय यमुना तट पर स्थित गोवर्द्धन पर्वत पर उनका निवास था। इसी स्थल पर ही कीर्तन करते समय इन्हें *वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ* का सत्संग तथा सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। इनके पदों से यह भी आभास होता है कि इन्हें गृहस्थ जीवन का अनुभव था; वे शिवोपासना के प्रभाव में भी आए थे। इन्होंने पर्याप्त लम्बी आयु का भोग किया।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' नामक पुस्तक में इनके विषय में काफी उल्लेखनीय सामग्री प्राप्त होती है। इससे ज्ञात होता है कि (बहुत से सेवकों के साथ सूरदास संन्यासी वेश में आगरा के निकट रेणुका क्षेत्र में गऊघाट पर निवास करते थे) महाप्रभु वल्लभाचार्य जब अड़ैल से ब्रज पधार रहे थे, तो उन्होंने मार्ग में गऊघाट पर सूरदासजी से भेंट की। वल्लभाचार्य जी ने इन्हें कुछ सुनाने को कहा। तब सूर ने यह पद गाया था—

प्रभु ! हौं सब पतितन को टीकौ।

आचार्यजी को यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कुछ भगवत्लीला वर्णन करने के लिए कहा। महाप्रभु ने इन्हें अपने मत में दीक्षित किया तथा 'पुरुषोत्तमसहस्रनाम' सुनाया जिससे इन्हें सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत् स्पष्ट हो गई।

सूर ने श्रीमद्भागवत् के द्वादश स्कन्धों पर पदों की रचना की। वल्लभाचार्य की आज्ञा से आप श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन करते थे और नित्य नवीन पदों की रचना करके कृष्ण-लीला का गान करते थे। वल्लभाचार्यजी के गोलोकवासी होने पर उनके पुत्र विट्ठलनाथजी ने 'अष्टछाप' की स्थापना की, जिसमें आपका प्रमुख स्थान था। अपना अन्त समय निकट जानकर आप 'पारसौली' आ गये। वहाँ आपने गोसाईं विट्ठलनाथ जी, रामदास, कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी आदि की उपस्थिति में निम्न पद गाते-गाते शरीर त्याग किया—

खंजन नैन रूप रस माते।
अति ये चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥
चलि-चलि जात निकट स्रवनन, उलटि पलटि ताटंक फंदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नतरु अबै उड़ि जाते॥

रचनाएँ—सूर ने श्रीमद्भागवत् सम्बन्धी अनेक पदों की रचना की थी जो उनके जीवनकाल में ही 'सागर' कहलाने लगे थे। बाद में, ये ही पद संग्रहीत होकर 'सूरसागर' के नाम से प्रसिद्ध हुए। एक जनश्रुति के आधार पर 'सूरसागर' में सवा लाख पद हैं, किन्तु अभी तक चार से पाँच हजार पद ही प्राप्त हुए हैं जिनका प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा से हुआ है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की अनुसन्धान रिपोर्टों के अनुसार सूरदास ने २४ ग्रन्थों का प्रणयन किया किन्तु आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर इनमें केवल 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' ही प्रामाणिक है।

सूर-सारावली—इस ग्रन्थ में ११०७ तुक हैं। संग्रहकार ने इनके प्रारम्भ में लिखा है, "अब श्री सूरदासजी रचित सूरसागर, सारावली तथा सवालक्ष पदों का सूचीपत्र।" इसके अनुसार सारावली 'सूरसागर' का सार एवं पद की अनुक्रमणिका है। किन्तु इस ग्रंथ के सूक्ष्म अध्ययन से यह प्रमाणित नहीं होता। 'सूर-सारावली' में अनेक ऐसे प्रसंग नियोजित हैं जिनका सूरसागर में उल्लेख तक नहीं हुआ है। कृष्ण के जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाओं में हेर-फेर

है। इससे यही प्रतीत होता है कि यह सूरसागर का सार या अनुक्रमणिका न होकर एक स्वतन्त्र ग्रंथ है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा आदि अनेक विद्वान इस ग्रन्थ के रचयिता किसी और सूरदास को मानते हैं।

साहित्य-लहरी—साहित्य-लहरी 'सूरसागर' का एक अंश है। इसमें सूरदास के वे पद संकलित हैं जिनके विषय नायिका-भेद, अलंकार एव रस-निरूपण आदि हैं। इसमें दृष्टकूट के भी अनेक पद संगृहीत हैं। इनके पदों की संख्या केवल १०८ है। इसका रचनाकाल सम्वत् १६०७ है। इस कृति की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में अभी तक मतभेद है। डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० ब्रजेश्वर वर्मा को इसकी प्रामाणिकता में सन्देह है।

सूर-सागर—सूर-सागर ही सूर का एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसकी प्रामाणिकता सभी विद्वानों ने स्वीकार की है। इस ग्रन्थ की रचना प्रबन्ध-काव्य के रूप में नहीं की गई। इसका आधार श्रीमद्भागवत् है। सूर-सागर की कथा १२ स्कन्धों में विभक्त है, जिनमें कृष्ण-लीला सम्बन्धी विभिन्न प्रसंगों को ध्यान में रखकर पद रचना की गई है। **प्रथम स्कन्ध** में विनय सम्बन्धी २१६ पद हैं। **द्वितीय स्कन्ध** में ६८ पद हैं जिनमें भक्ति, आत्मज्ञान, ब्रह्म तथा २४ अवतारों की कथा का वर्णन है। **तृतीय स्कन्ध** में १८ पद हैं जिनमें कथाएं एवं संवाद हैं। **चतुर्थ स्कन्ध** में १२ पद हैं। इनमें पार्वती-विवाह, शुकवचन आदि का वर्णन है। **पंचम, षष्ठ और सप्तम स्कन्ध** में क्रमशः ४, ४ और ८ पद हैं। इनमें अजामिल, नृसिंह अवतार आदि की कथाएँ वर्णित हैं। गंगावतरण और परशुराम अवतार की कथाओं को लेकर **नवम स्कन्ध** में १७२ पद हैं। इस स्कन्ध में राम-कथा का भी विस्तृत वर्णन है। **दशम स्कन्ध** में कुल मिलाकर ३६३२ पद हैं। यही स्कन्ध सूर-सागर की आत्मा और सूर-काव्य का गौरव है। इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक की कथा को स्थान मिला है। **एकादश स्कन्ध** में ६ पद तथा **द्वादस् स्कन्ध** में ५ पद हैं। इनमें अवतारों आदि की कथा का वर्णन किया गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण सूरसागर में ४०३२ पद संकलित हैं।

'सूरसागर' का कथा-संगठन यद्यपि श्रीमद्भागवत् का आधार लिए हुए है तो भी यह केवल श्रीमद्भागवत् का भावानुवाद मात्र ही नहीं है। सूरसागर के अनेक अंश सर्वथा मौलिक एवं भावप्रवण हैं जिनमें सूर ने अपने कवि हृदय का सच्चा परिचय दिया है।

भ्रमर-गीत सूर-सागर का सबसे अधिक आकर्षक एवं ललित अंश है। इसमें निर्गुण ब्रह्म पर सगुण ब्रह्म की, योग पर प्रेम की और ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखाकर सगुण भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की गई है। कृष्ण अपने वियोग में संतप्त गोपियों को परितोष देने के लिए अपने परम सखा उद्धव को ब्रज भेजते हैं जो गोपियों के कृष्ण प्रेम से- प्रभावित होकर वापस मथुरा लौटते हैं। इसमें कवि के तर्कमय मस्तिष्क और भावुक हृदय का अद्भुत समन्वय है। यह विप्रलम्भ-शृंगार का अनुपम काव्य है। इसमें भावान्दोलित गोपियों की वाग्विदग्धता पाठक को मोहित करती है।

इस प्रकार सूर-सागर ही भक्त कवि सूर की ख्याति का अडिग स्तम्भ है।

प्रश्न २—सूर के वात्सल्य वर्णन का निरूपण करते हुए सिद्ध कीजिए कि वह इस क्षेत्र के सम्राट हैं।

वाल्य-काल और यौवन-काल कितने मनोहर हैं ! उनके बीच मनोरम परिस्थितियों के विशद चित्रण द्वारा सूरदासजी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी, उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे। 'वात्सल्य' और 'शृंगार' के क्षेत्रों का वर्णन जितना सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं किया। इन क्षेत्रों का मानो कोना-कोना वे झांक आए हैं।" सूर ने "यदि वात्सल्य को अपने काव्य का विषय चुना तो वात्सल्य ने भी सूर को ही अपना एकमात्र आश्रय बनाया है।" सूर इस विषय में हिन्दी साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी बेजोड़ हैं।

सूर की अन्धी आँखों की पैनी दृष्टि कृष्ण के बाल-जीवन का कोना-कोना झांक आई है। उनका बाल-वर्णन एक प्रकार से बाल-मनोविज्ञान का माधुर्यपूर्ण अध्ययन है। सूर ने बाल-जीवन की साधारण-सी घटनाओं को इतने कलात्मक ढंग से सजाया और सँवारा है कि साहित्य-मर्मज्ञों को नव रसों के अतिरिक्त वात्सल्य रस के रूप में दसवें रस की भी उद्भावना करनी पड़ी है।

सूर अपने इष्टदेव बाल-कृष्ण पर पूर्णरूप से न्यौछावर हैं, तभी तो हर परिस्थिति में कृष्ण के रूप का बखान करना ही उनको भाता है। वह बाल-जीवन की प्रत्येक झाँकी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। वह कभी-माता यशोदा के हृदय में बैठकर तो कभी नन्द बाबा के हृदय का वासी बनकर बालक कृष्ण की लीलाओं का आनन्द लेते हुए आत्म-विभोर हो उठते हैं। बाल-जीवन की कोई भी वृत्ति इनसे अछूती नहीं रह सकी, तभी तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

को कहना पड़ा कि सूर से पूर्व किसी कवि ने वात्सल्य रस का निरूपण नहीं किया पर सूर ने पहली बार इस सम्बन्ध में इतना सुन्दर कहा कि इससे आगे कहने को कुछ भी नहीं रहा ।"

सूर के वात्सल्य-वर्णन के आलम्बन बालकृष्ण हैं। उनका मनोहर स्वरूप और बालसुलभ क्रीड़ाएँ उद्दीपन हैं तथा माता यशोदा, नन्द बाबा एवं व्रजबल्लभियाँ आश्रय हैं । सूर ने कृष्ण जन्म से लेकर उनकी शैशवावस्था की समस्त क्रीड़ाओं का अत्यन्त सूक्ष्म और मनोहारी चित्र प्रस्तुत किया है । कृष्ण को पाकर माता यशोदा तथा नन्द बाबा के हृदय का उल्लास, कृष्ण के सुखी जीवन की अभिलाषा-उनकी बाल-चेष्टाओं पर कभी क्रोध, कभी अमर्ष, कभी चिन्ता, कभी क्षोभ, मोह आदि वात्सल्य भाव की समस्त अन्तरंग और बहिरंग वृत्तियों का उद्घाटन करते हुए सूर ने अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं कौशल का परिचय दिया है। सूर ने इस क्षेत्र में ऐसे भावों और अनुभावो का नियोजन किया है कि इन्हें काव्यशास्त्र में अभी तक उनका नाम भी नहीं दिया गया ।

माता यशोदा का समस्त व्यक्तित्व कृष्ण के बाल-प्रेम में घुल-मिल गया है। उन्हें सब समय कृष्ण का ही ध्यान रहता है । वह कृष्ण को सुलाने के लिए लोरियाँ गाती हैं, पालना झुलाती हैं—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलरावै मल्हावै, जोइ जोइ आवै सोइ सोइ गावै ॥
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै ॥

माँ के मन में बड़ी अभिलाषा है कि उनका कृष्ण घुटनों के वल चलने लगे, उसके दूध जैसे दाँत चमकें, तोतले मीठे वचन बोले—

कब मेरी लाल घुटुरुवन रेगे, कब धरनी पग द्वैक धरे ॥
कब द्वै दंत दूध के देखौ, कब तुतरे मुख बैन झरे ॥

अन्त में, माता यशोदा की अभिलाषा पूरी होती है । कृष्ण आँगन में घुटनों के बल चलने लगते हैं, उनकी क्रीड़ाएँ और उनकी भोली-भाली बातें बालसुलभ चंचलता से भरी होती हैं। हठ करने पर भी वह दूध नहीं पीते, तब माता उन्हें चोटी बढ़ने का आश्वासन देती हैं । कृष्ण दूध पीते-पीते चोटी टटोलते हैं और कहते हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥

खेल-खेल में बलराम के साथी कृष्ण को चिढ़ाते हैं। कृष्ण माता से शिकायत करते हैं—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हों, तू जसुमति कब जायो ?
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हंसत सबै मुसकात॥
तू मोही को मारन सीखी दाउहिं कबहुं न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातें, जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥

ऐसी भोली-भाली, चिकनी-चुपड़ी बातें करने वाले कृष्ण वास्तव में बड़े चंचल और नटखट हैं। मक्खन चुराकर खाने में तो वह सिद्धहस्त हैं; साथ ही, पकड़े जाने पर अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने में भी सिद्धहस्त हैं—

(१) मैया मैं नहीं माखन खायो।
मैं बालक बहियन को छोटो, छींको केहि विधि पायो॥
(२) मैं जान्यो या घर अपनो है या धोखे में आयो॥
देखते हों गोरस में चींटी, काढ़न को कर नायो॥

कृष्ण जब खेलने के लिए निकलते हैं तो माता का हृदय भय और आशंका से भर जाता है। वह उन्हें किसी न किसी तरह दूर जाने से रोकना चाहती हैं—

खेलन दूर मत जाऊ कान्हा।
आजु सुन्यो बन हाऊ आयो, तुम नहिं जानत नान्हा॥

बाहर घूमने-फिरने पर जब उन्हें कहीं हाऊ नहीं मिलता, तो वह माता यशोदा से हँसकर पूछते हैं कि हाऊ किसने भेजा है—

दूरि खेलन जनि जाहु ग्वाल मेरे, बन मैं आए हाउ।
तब हँसि बोले कान्हा, मैया कौन पठाए हाऊ।

सूर के वात्सल्य वर्णन का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है। इस विषय पर बहुत कम कवियों ने काव्य-रचना की है। आदिकवि वाल्मीकि के काव्य में इसका थोड़ा बहुत वर्णन मिलता है, परन्तु उनके बाद के कवियों ने इस विषय पर लेखनी नहीं उठाई। विश्व कवियों में कवीन्द्र-रवीन्द्र ने वात्सल्य के कुछ चित्र अवश्य खींचे हैं; ये बालक के मनोविज्ञान का परिचय देने में सफल हुए हैं, यह

इनकी विशेषता है किन्तु उनके वर्णन में सूर जैसी सहृदयता, भावुकता, चापल्य और माता-पिता का मुग्ध हृदय नहीं मिलता।

केवल तुलसीदास ही एक ऐसे कवि हैं जिनकी तुलना सूर के साथ की जा सकती है, गीतावली और कवितावली मे उन्होंने राम के बाल-रूप का सुन्दर वर्णन किया है किन्तु इनकी भक्ति दास्यभाव की होने के कारण यह अपने इष्ट-देव के हृदय के मनोभावों का उद्‌घाटन नहीं कर सके हैं। यह दूर से खड़े होकर ही राम के रूप का वर्णन करते हैं। इनको वह छूट नहीं थी जो सूर को सख्य भाव की भक्ति के कारण थी। अतः सूर के सामने इनका वात्सल्य वर्णन फीका पड़ जाता है। सूर इस क्षेत्र में अद्वितीय एवं बेजोड़ हैं।

सूर के पदों में माता के हृदय का मधुर स्पन्दन है। सूर के बाल-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है उनके कृष्ण तुलसी के राम की भाँति जन-जीवन से अलग नहीं हैं। अतः विश्व-साहित्य में वात्सल्य-वर्णन में सूर की टक्कर का कोई कवि नहीं, वह इस क्षेत्र में बेजोड़ हैं। वास्तव में सूर वात्सल्य सम्राट् हैं। श्री वियोगी हरि ने सूर के सम्बन्ध में उचित ही कहा है, "सूर का दूसरा नाम वात्सल्य है और वात्सल्य का दूसरा नाम सूर। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं।"

प्रश्न ३—भ्रमर गीत में वर्णित सूर के विप्रलम्भ शृंगार का निरूपण कीजिए।

सूर का भ्रमर-गीत उनके ग्रन्थ सूर-सागर के दशम-स्कन्ध का एक प्रमुख अंश है। यह श्रीमद्‌भागवत् के भ्रमर-गीत पर ही आधृत है। इसमें कथा भाग नगण्य है। उद्धव को अपने ज्ञान पर गर्व है। कृष्ण उनके ज्ञान का गर्व तोड़ना चाहते हैं। इसलिए वह उन्हें अपने विरह में संतप्त गोपियों का परितोष करने के लिए तथा ब्रजवासियों को ज्ञान का उपदेश देने के लिए गोकुल भेजते हैं। उद्धव स्वयं गोपियों के प्रेम से प्रभावित होकर मथुरा वापिस लौटते हैं। इस प्रकार कृष्ण उनके ज्ञान-गर्व को तोड़ने में सफल होते हैं।

कई विद्वान् इसे अन्योक्ति काव्य मानते हुए गोपियों के विरह को जीवात्माओं का ब्रह्म के प्रति आत्म-निवेदन भी स्वीकार करते हैं। फिर भी, यह एक शुद्ध विप्रलम्भ काव्य है। इसमें मृत्यु को छोड़कर विरह की जिन शेष सभी अन्तर्दशाओं का मार्मिक चित्रण किया गया है वे इस प्रकार हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, उन्माद, व्याधि, प्रलाप, जड़ता, मूर्छा। गोपियों की विरहावस्था में कई संचारीभाव भी आए हैं जिनमें मुख्य-मुख्य ये

हैं—निर्वेद, शंका, गर्व, मोह, दैन्य, विषाद, असूया, हर्ष, ग्लानि, मति, धृति, उत्कण्ठा, चपलता, आवेश, निद्रा, स्वप्न, विबोध, वितर्क, अमर्ष, उग्रता, अपस्मार, त्रास तथा व्रीड़ा।

श्री वल्लभाचार्य ने कृष्ण-प्रेम की विरहावस्था जनित अनुभूतियों को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण माना है। प्रेमाभक्ति के सभी उपासकों ने परमात्मा के लिए जीवात्मा के विरह को भक्ति के लिए अनिवार्य तत्व स्वीकार किया है। सूर ने भ्रमर-गीत में विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त करुण, मर्मस्पर्शी और हृदय को बेधने वाला वर्णन किया है। उनका संयोग-शृंगार जितना सरस और मनोहारी है, वियोग-शृंगार भी उतना ही अन्तरात्मा को व्याकुल कर देने वाला है।

नन्दबाबा कृष्ण को लेकर अक्रूर के साथ मथुरा जाते हैं और खाली हाथ गोकुल वापस आते हैं। यह देखकर यशोदा का मातृ-हृदय मानसिक संताप से विक्षुब्ध हो उठता है। उन्हें कृष्ण का वियोग रह-रह कर सालता है, कृष्ण के बिना कुछ भी नहीं सुहाता। निर्वेद, तिरस्कार और अमर्ष के स्वर में वह नन्दबाबा से कहती हैं—

नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी, जहं गोकुल के राय॥

'ठोकि बजाय' शब्द में जितनी भावसबलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

गोपियों के साथ कृष्ण का बचपन से स्नेह था। यौवन आने पर यह स्नेह प्रेम में बदल जाता है तभी तो यह उद्धव से कहती हैं—**लरिकाई को प्रेम-कहो अलि कैसे छूटत'**। कृष्ण ब्रज में नहीं हैं, इसका स्मरण आते ही गोपियों का हृदय असीम दुःख और वेदना से भर उठता है। वे बराबर आत्म-भर्त्सना करती हुई अपने नेत्रों को कोसती रहती हैं—

बिछुरे श्री ब्रजराज आजु इन नैननु की परतीति गई।
यदि न गए हरि संग, तबहि ते ह्वै न गए स्याम मई॥

जहाँ गोपियों ने कृष्ण के साथ विहार किया है, जो स्थान कृष्ण के सहवास में सुखदायी थे, उनके आनन्द को द्विगुणित करते थे, वे ही आज विरहाग्नि को प्रदीप्त करते हैं। पावस के श्याम घन और शरद का चन्द्र शीतलता के स्थान पर ताप देते हैं, कुंजें, जिनके भीतर बैठकर राग-केलि की थी अब, ऐसी लगती हैं—

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं।
आगे और देखिए—

वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार संजीवनि दधिसुत किरन भानु भईं भुंजैं॥
ब्रज की रातें कृष्ण के बिना साँपिन हो गई हैं—

पिया बिनु साँपिन कारी राति।

कबहूँ जामिनी होत जुन्हैया, डसि उलटि ह्वै जाति॥
ऐसी भयानक रात्रि में नींद भी बैरिन बन बैठी है—

आजु रैनि नहिं नींद परी।

जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविन्द हरी।

× × ×

कहा करौं बैरन भई निदिया निमिष न और रही।

कृष्ण के विरह में किसी न किसी प्रकार दिन और रात्रि व्यतीत हो रही है। किन्तु दो रितु ब्रज से नहीं जा रहीं—

ब्रज तें द्वै रितु पै न गई।

गोपियों के नयन तो कृष्ण वियोग में नदी का रूप धारण कर चुके हैं—

तुम्हारे बिरह ब्रजनाथ अहो पिय नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी॥

राधा के वियोग-वर्णन में तो सूर ने अपने हृदय की समस्त करुणा को ही उँड़ेल दिया है। कृष्ण के सामीप्य में मुखरा और चंचला राधा वियोग में मौन, शांत और गम्भीर बन गई है। वह कृष्ण के विरह में दिन-प्रति दिन क्षीण होती चली जा रही है। गोपियों से ध्वज-पताका सहित श्वेत रथ पर पीत वस्त्र पहने किसी के आने का समाचार पाकर वह हर्षित होती है। किन्तु आतुर होकर दौड़ती नहीं अपितु कपाटों की ओट में खड़ी रह जाती है। उसका तन काँप रहा है। विरह की व्याकुलता से उसके हृदय में धुक धुकी चल रही है—

तनु अति काँपति, विरह अति व्याकुल, उर धुकधुकी खेद कीनी।
चलत चरन गहि रही गई गिरि, स्वेद सलिल भल भीनी॥

उद्धव के सम्मुख अन्य गोपियाँ तो व्यंग्यों द्वारा कृष्ण को उलाहने भी देती हैं, खरी-खोटी भी सुनाती हैं किन्तु राधा वहाँ जाती तक नहीं। वह तो माधव-माधव रटती है और इस प्रकार वह माधव रूप होकर राधा-कृष्ण के विरह में दग्ध होने लगती है—

जब राधे तबही मुख माधो-माधो रटति रहै।
जब माधो होइ जात सकल तनु राधा विरह दहै॥
उभय अग्र दोऊ कटि ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति विकल विरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥

उद्धव ने कृष्ण से राधा की जिस मूर्ति का वर्णन किया है उसे अवलोक कर पत्थर भी पिघल सकते हैं—

चित्त दै सुनहु स्याम प्रवीन।
हरि तिहारे विरह राधे मैं जो देखी छीन॥
कहन को संदेश सुंदरि गवन मो तन कीन।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुझे गिरी बलहीन॥
बहुरि उठी संभारि सुभट ज्यों परम साहस कीन।
बिन देखे मनमोहन मुखरो सब सुख उनको दीन॥

राधा और गोपिकाएँ ही नहीं; कृष्ण के वियोग में तो सभी पीड़ित हैं। कृष्ण की गायो की दशा तो अत्यन्त शोचनीय है। उनकी काया निर्बल हो गई है, आँखों में निरन्तर आँसू बहा करते हैं। दुःख से वे हूँकारती रहती हैं। जिन-जिन स्थानों पर कृष्ण गो-दोहन करते थे वहाँ वे कृष्ण को ढूंढ़ा करती हैं—

अति कृसगात भई हैं तुम बिन परम दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत अँखियन तें हूकति लीन्हें नाव॥
जहाँ-जहाँ गो-दोहन करते, ढूंढ़ति सोइ-सोइ ठाँव॥

इस प्रकार सूर का विप्रलम्भ शृंगार अपने आप में पूर्ण है। विरह की जितनी भी अन्तर्दशाएं हो सकती हैं, उन्होने उन सभी का स्पर्श किया है। इस विषय में वे अद्वितीय हैं।

प्रश्न ४—"सूर ने भ्रमर-गीत के द्वारा निर्गुण की उपासना से सगुण के प्रति अनन्य प्रेम को अधिक ऊँचा ठहराया है।" उदाहरण देकर इस उक्ति की विवेचना कीजिए।

सूरदास हिन्दी के उत्कृष्ट कवि तथा उच्चकोटि के भक्त के रूप में

स्मरणीय हैं। उनकी भावनाओं का आधार कृष्ण की भक्ति है। वह विद्वानों द्वारा कृष्ण-काव्य के एक अनन्य कवि मान्य हुए हैं। कृष्ण-भक्ति पर सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत् है, जो संस्कृत में लिखा गया है। हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-काव्य के सार एवं प्रणयन में भक्त कवि सूरदास का प्रमुख स्थान है। सूरदास के कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी ग्रन्थ सूर-सागर की रचना श्रीमद्भागवत् के आधार पर ही हुई है। सूरसागर का दशम स्कन्ध अत्यन्त विस्तृत है तथा उसमें श्रीकृष्ण-सम्बन्धी लीलाओं को विशेष स्थान मिला है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ४६ और ४७ अध्याय में भ्रमर-गीत प्रसंग है किन्तु वहाँ उसका एक सीधा और सरल रूप ही उपलब्ध होता है। श्रीकृष्ण ब्रज की स्मृति करते हैं और उद्धव को सन्देश देकर गोपियों के पास भेजते हैं। श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण का उद्धव को ब्रज भेजने का उद्देश्य है—नन्दबाबा तथा यशोदा माता को आनन्दित करना एव अपने विरह में संतप्त गोपियों को समझा-बुझा कर विरह-मुक्त करना। उद्धव के कारण गोपियों का विरह तो दूर होता ही है, उद्धव गोपियों की प्रेम-भक्ति से भी अत्यधिक प्रभावित होते हैं तथा उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

सूरदास ने श्रीमद्भागवत् के इस छोटे से प्रसंग पर अपनी युगीन परिस्थितियों का लेप चढ़ाकर इसे सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। सूर के समय में शंकराचार्य के अद्वैतमत तथा वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत मत के समर्थकों में विवाद चलता रहता था। अतः सूरदास ने उद्धव के उपदेश को ज्ञान-मार्ग के रूप में ग्रहण करके गोपियों के प्रेम को सगुण रूप में ग्रहण किया और ज्ञान मार्ग को सगुण भक्ति से पराजित देखकर अपने अभीष्ट उद्देश्य को सिद्ध किया।

यही कारण है कि सूर के उद्धव को अपने ज्ञान पर गर्व है। श्रीकृष्ण ने उनके ज्ञान व गर्व को चूर करने के लिए ही ब्रज भेजा है, वरन् उन्हें गोपियों के प्रेम पर पूर्ण विश्वास है। यहीं से ही सूर अपने उद्देश्य की पूर्ति में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं—

प्रेम भजन न नेकु जाके, जाय क्यों समुझाय।
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहि देहु पठाय॥

निर्गुण ब्रह्म केवल एक भावना की उपज है, क्रियाशील जीवन में उसकी कोई उपयोगिता नहीं। इसी बात की पुष्टि करने के लिए ही सूर ने भ्रमर-गीत की सोद्देश्य रचना की है, जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है।

ज्ञान-मार्ग में विश्वास करने वाले उद्धव तुरन्त ब्रज चल देते हैं। वह गोपियों को हरि का सन्देश सुनाते हैं। 'प्रेम-भक्ति निस्सार है। ज्ञान-मार्ग पर चलकर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। प्रेम-भक्ति की उपासना करने वाली ब्रज-बालाओं को उद्धव का यह उपदेश विष के समान लगा। वे विरह-व्यथा से और भी अधिक व्याकुल हो जाती हैं। फिर सम्हल कर अपनी सरल एवं भोली-भाली उक्तियों से उद्धव के ज्ञान-मार्ग पर आक्रमण करने लगती हैं कि उद्धव से चुप ही रहते बनता है।

गोपियाँ उद्धव के तर्कों को काटती हुई मीठी चुटकियाँ लेती हैं—

उद्धव जोग बिसरि जनि जाहु।

बाँधउ गाँठ कहूँ जनि छूटै, फिर पाछे पछिताहु॥

तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म का कोई पता-ठिकाना ही नहीं है। अतः वह ब्रजवासिन के काम नाहि काम को—

निर्गुन कौन देस को बासी ?

मधुकर हँसि समुझाउ, सौंह दै, बूझत साँच, न हाँसी॥

निर्गुण ब्रह्म के न माता-पिता हैं, न पत्नी है और न उनकी वेष-भूषा ही का पता है—

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी ?

कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी॥

उद्धव ज्ञानमार्गी होने के कारण इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते। फिर भी, गोपियाँ उनका पीछा नहीं छोड़तीं। वे व्यंग्यों पर व्यंग्यों की बौछार करती चली जाती हैं। वे कृष्ण के बदले योग का सौदा करना नहीं चाहतीं; क्योंकि उनके अनुसार योग निस्सार वस्तु है और कृष्ण स्वर्ण हैं, इसलिए वे उद्धव से प्रार्थना करती हैं कि वह हमें योग न सिखाएँ—

ऊधोजी हमहिं न जोग सिखैये।

जेहि उपदेस मिलैं हरि हमकों सो ब्रत नेम बतैये॥

उनकी 'अँखियाँ हरि दरसन की भूखी' हैं इसलिए वे कहती हैं—

"कैसे रहे रूप रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखी।"

केवल इन आँखों की ही समस्या तो नहीं, मन भी तो एक है जिसे कृष्ण अपने साथ मथुरा ले गए हैं—

ऊधो मन नाहीं दस बीस।

एक हुतो सो गयो स्याम संग; को अवराधै ईस॥

बात यहीं तक रहती तो भी गनीमत थी। गोपियाँ कहती हैं कि हो सकता है उद्धव का ज्ञान अच्छी चीज हो, उसमें तत्त्व ही तत्त्व हो, किन्तु वे निपट गँवारिन होने के कारण उसे समझ भी तो नहीं पा रही हैं। मथुरा की नागरी स्त्रियाँ ज्ञानी हैं इसके योग्य हैं—

ऊधौ ब्रज की दसा विचारो।
ता पाछै यह ज्ञान आपनो, जोग कथा विस्तारो।
अपनी ज्ञान कथा यह ऊधौ, मथुरा ही लै जाव।।
नागरि नारि नीके समझैंगी तुमरो वचन बनाव।।

इस पर भी उद्धव नहीं मानते और अपना उपदेश जारी रखते हैं। गोपियाँ खीझ उठती हैं, उद्धव को फटकारती हैं और भक्ति रूप राजमार्ग को निर्गुण कंटकों से रोकने के लिए मना करती हैं—

काहे को रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप, निर्गुन कंटक ते राजपंथ क्यों रूँधौ।।

गोपियाँ तो अपने प्रियतम कृष्ण की त्रिभंगी मनोहारी छवि पर न्यौछावर हैं। उनके सम्मुख 'रूप रेख गुन जाति नहिं' यह निर्गुण कोई महत्त्व नहीं रखता, यह उनके किस काम का है तभी तो वे उद्धव से पूछती हैं —

रेख न बरन रूप नहिं जाके, ताको हमें बतावत।
अपनो कहौ दरस ऐसे को, तुम कबहूँ हो पावत।।
मुरली अधर धरत है सो पुनि गोधन बन-बन चारत।।
नैन बिसाल भौंह बंक करि, देख्यौ कबहुँ निहारत।।
तन त्रिभंग करि, नटवर बपुधरि, पीताम्बर तेहि सोहत।
सूर-स्याम जो देइ हमैं सुख, त्यौं तुमको सोउ मोहत।।

अन्त में, उद्धव गोपियों की इन भोली-भाली उक्तियों के सम्मुख परास्त हो जाते हैं और अपने ज्ञान को भूलकर कृष्ण का गुणगान करने लगते हैं। इस प्रकार सूर का उद्देश्य सम्पन्न होता है। ज्ञान पर भक्ति की, मस्तिष्क पर हृदय की, निर्गुण पर सगुण की और योग पर प्रेम की विजय हो जाती है। उद्धव जैसे ज्ञानवान् का गोपियों के सम्मुख चुप रह जाना कुछ अटपटा-सा लगता है किन्तु सूर के उद्देश्य को देखकर खलता नहीं। भ्रमर-गीत का प्रणयन ही इसी उद्देश्य को लेकर हुआ है, और सूर अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल हैं।

प्रश्न ५—सूर की भक्ति-भावना का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

भक्ति का उद्भव एवं विकास—भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में

भक्ति का विशिष्ट स्थान रहा है। १५-१६ वीं शती में उत्तरी भारत में भक्ति की एक अविरल धारा प्रवाहित हुई जिनमें अनेक वैष्णव भक्तों की वाणी का योग था। इन भक्त कवियों के काव्य का मूल्यांकन भक्ति के क्रमिक विकास की पृष्ठभूमि में ही हो सकता है। भक्ति शब्द 'भज्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बना है। 'भज्' धातु का अर्थ है—भजन, सेवा, विभाजन, अनुराग, आराधना आदि। सामान्यतः किसी व्यक्ति के अपने आराध्यदेव के प्रति स्नेह को भक्ति कहा गया है किन्तु विशेष रूप से भक्ति शब्द का प्रयोग 'ईश्वरोन्मुख प्रेम' के लिए होता है।

भारतीय साहित्य में भक्ति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं। 'नारद भक्ति-सूत्र' के अनुसार 'ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूप ही भक्ति है' तथा शाण्डिल्य भक्ति सूत्र के अनुसार, 'ईश्वर के प्रति परम अनुराग ही भक्ति है।' श्रीमद्भागवद् गीता में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'जो मुझे अपना मन और बुद्धि अर्पित कर देता है, वह मुझे प्रिय है।' श्रीमद्भागवत में भक्ति का चरम विकास उपलब्ध होता है। भागवत्कार के अनुसार 'मनुष्य के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द-स्वरूप भगवान् की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।'

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—"भगवान् में महात्म्यपूर्ण, सुदृढ़ और सतत् स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय अन्य नहीं है।" सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य होने के कारण कुछ ऐसे ही विचार रखते थे। यद्यपि वे भक्ति के साध्यरूप को ही अधिक महत्त्व देते थे और इस साध्यरूप भक्ति का आधार प्रेम है, तो भी सूरसागर में बैधी भक्ति के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। सूरदास के भक्ति-विवेचन से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्यजी से मिलने के पूर्व उनका मन स्थिर नहीं था, इसलिए उनके भक्ति विवेचन में उत्तरोत्तर निश्चित रूप से अन्तर प्रतीत होता है। निर्गुण पंथ के प्रति सहिष्णुता उदासीनता में परिणित होती हुई भ्रमर-गीत प्रसंग में पूर्ण रूप से फूट निकली है।

सूर-काव्य पर दृष्टि डालने से यही लगता है कि यह रसिक अन्ध-गायक अपने अन्तर्चक्षुओं से श्रीकृष्ण के ध्यान में तन्मय है। इसी कारण उनके विषय में कहा गया है—सूर भक्त पहले हैं, कवि बाद में। सूर पहले निर्गुण भक्ति के प्रति सहिष्णु थे; किन्तु महाप्रभु वल्लभाचार्यजी की सेवा में आने के पश्चात्

यह सहिष्णुता उदासीनता में बदल गई। वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होकर सूर ने कृष्ण की लीलाओं का ऐसा वर्णन किया कि अपने समय के जन-समाज को उसमें बहा दिया।

सूर की उपासना पद्धति पुष्टिमार्गी कहलाती है, जिसका अर्थ है—भगवान् का अनुग्रह। इस प्रकार की भक्ति और भगवान् के अनुग्रह से भक्त को मुक्ति मिलती है। वह गोलोकवास होने पर भगवान् का सामीप्य लाभ करता है। भक्ति में भी सूर ने सख्य-भाव की भक्ति को अपनाया है। उन्होंने दास्य भावना के अनुसार किसी की सिफारिश नहीं पहुँचाई, बल्कि एक बिगड़ैल दोस्त की तरह अक्खड़पन के विरुद्ध होने की धमकी दी। उदाहरण के लिए यह पद देखिए—

अब मोहि भीजत क्यों न उबारो।
सूरदास पतितन को संगी विरदहि नाथ संभारो।।

सूरदास कहते हैं, मेरे दोषों का कोई अन्त नहीं—

जो गिरिपति भसि घोरि उदधि में, लै सुरतरु विधि हाथ।
मम कृत दोष लिखे वसुधा भरि, तऊ नहीं मिति नाथ।।

किन्तु हे प्रभु! मेरे दोष मत देखिए, जैसे-तैसे हो मेरा उद्धार कीजिए—

प्रभु! मेरे अवगुन चित न धरो।

सूर को अपने विष्णु के अवतार इष्टदेव का अभिमान है, इस विषय में वे अधिक सहिष्णु बनकर किसी अन्य की स्तुति करना नहीं चाहते। नन्द द्वारा शालिग्राम की पूजा होते देख उन्हें श्रीकृष्ण के मुख में पहुँचा देते हैं। वह कृष्ण के अनन्य भक्त हैं। सूरदास के काव्य का आरम्भ ही "बन्दौ चरण-कमल-हरिराई" से हुआ है। शिवाजी या छत्रसाल की प्रशंसा करने वाले कवि भूषण के समान सूर ने कृष्ण के अतिरिक्त सभी देवी-देवताओं को रंक और भिखारी तक कह डाला है।

और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत घनेरे।

सख्य-भाव की भक्ति के अन्तर्गत सूर ने वात्सल्य और दाम्पत्य-रति का वर्णन भी बड़ी ही कुशलता से किया है। सूर ने सर्वप्रथम साहित्य-क्षेत्र में बाल्य-जीवन का स्वाभाविक, मनोविज्ञान और मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। सूर ने बाल कृष्ण के लौकिक रूप का अत्यन्त मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है। उनकी बाल-लीला पर बालक ही नहीं, बड़े-बूढ़े भी मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी ॥
चांद के लिए मचलते हठीले श्याम का एक रूप यह देखिए—

मैया ! मैं तो चन्द खिलौना लैहों।

या उनकी चतुरता का एक चित्र यह है—

मैं जानै यह घर अपनो है, या धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी, काढ़न को कर नायो ॥

कृष्ण की ऐसी लीलाओं को देखकर माता यशोदा अपने आपको धन्य समझती हैं—

जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ,
सो नित जसुमति पावै ॥

सूर ने बालकों की मनोवृत्तियों का अति सूक्ष्म निरीक्षण किया, किन्तु वे यह कभी नहीं भूले कि कृष्ण उनके इष्टदेव हैं; इसी कारण उनके वर्णन में सर्वत्र एक शिष्टता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

दाम्पत्य-रति में प्रेम की पूर्णता है। सूर ने दाम्पत्य रति का वर्णन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर किया है, जैसे राधा और कृष्ण का प्रेम-वर्णन प्रकृति और पुरुष के प्रतीकों के रूप में, किन्तु भावोन्मेष और प्रेम-विह्वलता के कारण ये वर्णन लौकिक से प्रतीत होते हैं। प्रथम मिलन का उदाहरण देखिए—

सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगौरी।

भ्रमर-गीत शृंगार-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपालम्भ काव्य है। इसमें श्रीकृष्णरूपी ब्रह्म के विरह में गोपिका रूपी जीवात्माएं व्याकुल हैं। इसके अतिरिक्त निर्गुणवाद का थोथापन भी इसमें स्पष्ट किया गया है। सूर के समय में गोरखनाथ के हठयोग का भी प्रचार था। सूर ने हठयोग का भी खण्डन किया—

आयो घोष बड़ो व्योपारी।
लादि खेप यह ग्यान जोग की ब्रज में आय उतारी ॥

साहित्य को प्रचारात्मक न मानने वालों के समक्ष सूर का उदाहरण प्रस्तुत है। अष्टछाप के इस कृष्णोपासक रसिक भक्त सूर के समस्त साहित्य पर सगुणवाद की स्पष्ट छाप है। सूर को अपने पर अटूट विश्वास था, अपने आराध्यदेव पर अटूट प्रेम था। अन्त समय में, गोस्वामी विट्ठलनाथजी के

पूछने पर कि तुम्हारे नेत्रों की वृत्ति कहाँ है, सूरदास ने यह पद गाकर सुनाया—

> खंजन नैन रूप रस माते।
>
> सूरदास अंजन गुन अटके, नतरु अवहिं उड़ि जाते।

इस प्रकार अन्त समय तक कृष्ण-लीला करते हुए उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

प्रश्न ६—"सूरदास में जितनी सहृदयता एवं भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता एवं वाग्विदग्धता भी है।" भ्रमर-गीत से उपयुक्त उद्धरण देते हुए इस कथन की समीक्षा कीजिए।

भ्रमर-गीत की अवतारणा का मुख्य कारण सगुण भक्ति का महत्व प्रतिपादन करने के लिए किया है। सूर के समय में शंकर के अद्वैत मत के समर्थकों में तथा वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत मत के समर्थकों में विवाद चल रहा था। सूर ने भ्रमर-गीत की रचना करके इस विवाद को सुलझाने का सफल प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त, सूर को एक भक्त होने के नाते भी अपनी आत्मा की वेदनापूर्ण स्थिति के स्पष्टीकरण का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ। गोपियों की वेदना उनकी वेदना है, जो आत्मा अपने परमप्रिय ब्रह्म से विमुख होकर अनुभव करती है। इस प्रकार सूरदास के कवि-हृदय की सहृदयता पाकर उनकी अपनी वेदना ही साकार हो उठी है।

इस उद्देश्य को देखते हुए भ्रमर-गीत का आकर्षण जहाँ कवि की सहृदयता तथा भावुकता है, वहाँ सूर की कथन-पद्धति की विशेषता भी है। इस काव्य में जो अनूठापन है उसका कारण चमत्कारातिशय की प्रवृत्ति न होकर भावातिरेक के कारण उत्पन्न उक्ति-वैचित्र्य ही है। सूर ने अपने इष्ट देव के मधुर क्रीड़ाशील रूप के वर्णन का सुअवसर प्राप्त कर सकने के कारण जो वाग्वैदग्ध्य विकसित किया था, उसका जी भरकर प्रयोग इसी काव्य में किया है। उनकी अभिव्यक्तियाँ इतनी वक्र और विचित्र हैं कि उनकी तुलना भावोच्छ्वसित सागर की अनन्त लहरियों से की जा सकती है। सम्पूर्ण भ्रमर-गीत में प्रयत्नशील वाग्वैदग्ध्य के दर्शन होते हैं कि सूर की प्रतिभा को बार-बार नमस्कार करना पड़ता है—

(१) हमसो कहत कौन की बातें ?

> सुनि ऊधौ ! समुझत नाहीं, फिर बूझति हैं तातें ॥

(२) तू अलि कासों कहत बनाय।

(३) आयो घोष बड़ो ब्योपारी।

भ्रमर-गीत के वाग्वैदग्ध्य की एक विशेषता यह भी है कि इसमें विविधता है। एक ही मानसिक स्थिति को कई प्रकार से व्यक्त करने में कवि निपुण है और यही इस काव्य का अनूठापन है। देखिए, गोपियाँ किस प्रकार उद्धव को अयोग्य सिद्ध करती हुई अपने पथ की श्रेष्ठता का बखान करती हैं—

तेरो बुरो न कोऊ माने।
रस की बात मधुप नीरस सुन, रसिक होत सो जाने॥

अपनी दृढ़ता के कारण कहीं-कहीं सूर की गोपियाँ चुनौती के रूप में अपने पक्ष का प्रतिपादन करती हैं तो कहीं प्रतिपक्षी के कथन के प्रति अविश्वास प्रकट करके। इससे उक्तियाँ और भी अधिक मार्मिक बन गई हैं—

ऊधौ हम अजान मति भोरी।

तुलनात्मक पद्धति भी उक्ति-वैचित्र्य को आकर्षक बनाती है। इस पद्धति में स्वपक्ष की रमणीयता तथा प्रतिपक्ष की हीनता का प्रदर्शन किया जाता है। सूर ने इस पद्धति का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया है। भक्ति-पथ की सरसता तथा योग-पक्ष की जटिलता का प्रदर्शन करने में सूर पूर्ण रूप से सफल हुए हैं—

रूप न रेख, बरन बपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सौं प्रीति निरन्तर क्यों निबहै री माई॥

× × ×

मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम-रोम अरुझाई।
हौं बलि गइ सूर प्रभु ताके, जाके स्याम सदा सुखदाई॥

वाग्वैदग्ध्य के लिए दृष्टान्त-पद्धति का प्रयोग भी बहुत सहायक होता है। इसमें विपक्षी के विरुद्ध चुन-चुन कर ऐसे दृष्टान्त उपस्थित किए जाते हैं जो लोकानुभव पर आधारित होते हैं। भ्रमर-गीत में इस पद्धति के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं।

अटपटि बात तिहारी ऊधो, सुनै सो ऐसी को है?
हम अहीर अबला सह, मधुकर! तिन्है जोग कैसे सौहै?
बूचिहि खुभी आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुडली पाटी पारन चाहै, कोढ़ी अंगहि केसरि।

सूर की गोपियाँ तरह-तरह की बात गढ़ लेने में अत्यन्त कुशल हैं । कभी-कभी वह ऐसा मीठा झूठ बोलती हैं कि वचन-वैचित्र्य बढ़ जाता है—

काहे को गोपीनाथ कहावत ?
सपने की पहचानि जानि कै, हमहिं कलंक लगावत ॥

कहीं-कहीं मिथ्या का सृजन सम्भावनाओं पर भी आधारित दिखाई देता है जिससे काव्य में एक अनूठा चमत्कार उत्पन्न हो गया है—

ऊधो ! जाहु तुम्हें हम जाने ।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाहि पठाए, तुम ही बीच भुलाने ।

सूर की गोपियाँ सामूहिक रूप से अपने पक्ष की श्रेष्ठता के प्रति तो पूर्णतः आश्वस्त हैं । अतः वे तर्क का मार्ग न अपना कर उद्धव को विद्रवित करने में ही प्रयत्नशील हैं । वस्तुतः विद्रूपीकरण और उपालम्भ इन दो पद्धतियों द्वारा सूर ने भ्रमर-गीत की उक्तियों को अपेक्षाकृत अधिक मार्मिक बनाया है । उपालम्भ में अतीत के प्रेम का स्मरण किया जाता है । प्रिय की उपेक्षा पर व्यंग्य किए जाते हैं । प्रेमोपालम्भ की सभी पद्धतियों का सूर ने सफल निर्वाह किया है जो कि उक्त वैचित्र्य का प्रतीक है—

(१) बरु ये बदराऊ बरसन आए ।
अपनी अवधि जानि, नन्दनन्दन ! गरजि गगन घन छाये ॥

(२) भूलति हो कत मीठी बातन ?
ये अलि है उनही के संगी, चंचल चित, साँवरे गातन ॥

(३) उघरि आयो परदेसी को नेहु ।
तब तुम कान्ह कान्ह कहि टेरति, फूलति ही अवलेहु ॥

वस्तुतः सूर ने अपने भ्रमर-गीत में वाग्वैदग्ध्यता का सागर ही लहरा दिया है । कहीं वे सन्देह पद्धति अपनाते हैं तो कहीं भर्त्सना पद्धति अपनाकर विदग्धता की रक्षा करते हैं—

ऊधो ! कही सो बहुरि न कहियो ।
जो तुम हमहिं जिवाओ चाहो तो अनबोले ह्वै रहियो ॥

कभी-कभी सूर की गोपियाँ उद्धव को इस प्रकार समझाती हुई दिखाई देती हैं जैसे उद्धव ज्ञान के नहीं, मूर्खता के राजा हों—

ऊधो हम लायक सिख दीजै ।
तुमही कहो यहाँ इत ब्रिज में सीखन हारी को है ?

वाग्वैदग्ध्य में कुब्जा-प्रसंग ने भी पर्याप्त सहायता दी है—

बरु ए कुब्जा भलो कियो।
सुनि-सुनि समाचार ऊधो, मो कछुक सिरात हियो ॥

इस दृष्टि से भी भ्रमर-गीत पर विचार करने पर भी सूर स्पष्टतः एक सफल कलाकार सिद्ध होते हैं। इस काव्य मे केवल शब्द एवं अर्थ की क्रीड़ा-मात्र ही नहीं है अपितु रस तथा भाव भी सम्मिलित है, इससे सहृदयों को आनन्द प्राप्त होता है। भ्रमर-गीत वाग्वैदग्ध्य का एक सुन्दर एवं उत्कृष्ट उदाहरण है। वस्तुतः वाग्वैदग्ध्ययुक्त भ्रमर-गीत जैसा काव्य अन्यत्र नहीं मिलता।

व्याख्या-भाग

(१)

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगें मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वादही सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जाने जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातें सूर सगुन लीला-पद गावै ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद हिन्दी-साहित्याकाश के सूर्य महाकवि सूरदास के विनय सम्बन्धी पदों से उद्धृत है। लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त सूरदास जी ने इस पद में सगुण भक्ति के प्रति अपनी भावों की अभिव्यक्ति की है। सगुण साकार श्रीकृष्ण की उपासना किसलिए? उस परम प्रभु की असीम शक्ति तथा अनिर्वचनीयता सामान्य जन सुलभ नहीं, इसलिए भक्त भगवान् के साकार स्वरूप की भक्ति में तन्मय रहता है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है :

व्याख्या—उस अविगत परम प्रभु की गति किसी से कही नहीं जा सकती। यह किसी को भी ज्ञात नहीं। जिस प्रकार गूंगा व्यक्ति मीठा फल खाने पर उसके स्वाद को कह नहीं सकता केवल हृदय में ही उसे अनुभव करता है, उसी प्रकार भगवान् की शक्ति अथवा महिमा को केवल अनुभव ही किया जा सकता है। ईश्वरीय शक्ति तथा भक्ति रस परम स्वादिष्ट, एक रस तथा

निरन्तर सन्तोष प्रदान करने वाली है। यह मन तथा वाणी से अथवा इन्द्रियों से प्राप्त नहीं होती, इसका आनन्द तो वही जानता है जिसने इसे प्राप्त कर लिया है। प्रभु की अमित शक्ति का बखान करते हुए महाकवि सूरदास यह उद्घोषित करते हैं कि निर्गुण, निराकार जिसका कोई भी नाम, रूप आकार-प्रकार जाति आदि नहीं है, जिसे योग की युक्तियों से पाना भी कठिन नहीं है, उसके पीछे मन कैसे भागे, इसलिए उस निर्गुण, निराकर को सभी दृष्टियों से अगम्य जानकर ही सूरदास सगुण-साकार भगवान् की लीला के पद गाता है।

विशेष—पुष्टिमार्गी शाखा में सगुण-साकार श्रीकृष्ण को ही परमात्मा स्वीकार किया गया है। इस मत में ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति को सर्वोपरि माना गया है। रागानुरागा भक्ति के लिए ही प्रभु को लीला पुरुषोत्तम, रसेश्वर आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। उपर्युक्त पद में सूरदास में भगवान् की परम शक्ति का उल्लेख करते हुए भी सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा जिस सरल किन्तु प्रभावी रूप में की है, वह अपने आप में अनुपम है। बौद्धिक तथा तर्क प्रधान शैली में भी रसात्मकता का योगदान होने से उसका प्रभाव तथा सरसता बढ़ गई है। इसमें भक्ति रस की अनुभूति को अनिर्वचनीय मानते हुए कवि ने महात्मा कबीर की उक्ति "गूंगे केरि सरकरा" के प्रयोग से ही सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा करने में सफलता प्राप्त की है।

(२)

वा पट पीत की फहरानि।
करि धरि चक्र, चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बानि।
रथ तैं उतरि चलनि आतुर ह्वै, कच रज की लपटानि।
मानौ सिंह सैल तैं निकस्यौ, महा मत्त गज जानि।
जिन गोपाल मेरौ प्रन राख्यौ, मेटि वेद की कानि।
सोई सूर सहाइ हमारे, निकट भए हैं आनि॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदास द्वारा रचित है। अपने भगवान् की भक्ति में मग्न होकर भक्त उसकी शक्ति और उदारता आदि गुणों का स्मरण करके आत्म-विभोर हो जाता है। प्रस्तुत पद में कवि ने भगवान् के उस रूप की वन्दना की है जो भक्तों के कल्याणार्थ अथवा भक्तों के प्रण को पूरा करने के लिए सभी प्रकार के बन्धन काट देते हैं। श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध में शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी किन्तु भीष्म पितामह ने भी प्रतिज्ञा कर ली थी

कि यदि भगवान् को शस्त्र उठाने को विवश न कर दूँ तो मैं भी शान्तनु का पुत्र नहीं कहाऊँगा। भक्त की प्रतिज्ञा के समक्ष भगवान् को झुकना ही पड़ा, सूरदास जी ने उसी स्वरूप का स्मरण करते हुए कहा है कि—

व्याख्या—जिस समय भगवान् अपने हाथ में रथ का चक्र लेकर बड़ी द्रुत-गति से भीष्म की ओर बढ़े थे, उस समय का उनके पीताम्बर का हवा में उड़ने तथा चेहरे पर वीरता और भक्तवत्सलता का भाव प्रकट होने वाला रूप किसी प्रकार भी भूलता नहीं है। जिस समय श्रीकृष्ण रथ से उतर कर बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहे थे, उस समय उनके केशों पर युद्ध भूमि की उड़ने वाली धूलि लगी हुई थी, ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे किसी मस्त हाथी को देखकर कोई सिंह अपनी कन्दरा से बाहर आ रहा हो। कवि सूरदास प्रभु से विनय करते हैं कि जिन गिरधर गोपाल ने शस्त्र आदि के बन्धन त्याग कर भक्त के प्रण की रक्षा की है, वही प्रभु हमारे निकट आकर सहायक हों।

विशेष—प्रस्तुत पद में कवि ने महाभारत की सुप्रसिद्ध घटना का चित्रण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि भगवान् भक्तों के लिए सभी प्रकार के कार्य करने में समर्थ हैं। जिस पर भगवान् की कृपा हो जाये उसके सभी कष्ट कट जाते हैं। भगवान् की इस लीला में वीरता, भक्तवत्सलता और उदारता आदि गुणों की अभिव्यक्ति में भी कवि को पूर्ण सफलता मिली है। सरल भाषा तथा सार्थक वर्णन से प्रभावात्मकता और सरसता में वृद्धि हुई है।

अलंकार—(१) वह पट·······वह बानि—अनुप्रास।

(२) मानो सिंह·······जानि—उत्प्रेक्षा।

(३) जिन गोपाल·········आनि—उदाहरण।

(३)

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग।
जहाँ सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-डर, गुंजत निगम सुबास।
जिहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै।
लछमी सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय-रस-छीलर, वा समुद्र की आस।

प्रसंग—पुष्टिमार्गीय कृष्ण भक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि सूरदास जी ने प्रस्तुत पद में भक्ति की चरमावस्था का चित्रण किया है। सांसारिक विषयासक्ति से दूर रहकर भक्त उस स्थिति की कामना करता है जहाँ किसी प्रकार का दुःख-सुख, जन्म-मरण, मिलन-वियोग आदि की विषमता नहीं है। मन रूपी चकवी का प्रभु चरणों की ओर उन्मुख करते हुए कवि कहता है कि—

व्याख्या—हे चकवी, सांसारिक विषयासक्ति को त्याग कर प्रभु के चरण रूपी सरोवर पर चलो, जहाँ एक बार पहुँचने पर फिर से वियोग का दुःख नहीं होता। भक्ति का यह पावन सरोवर ऐसा है जहाँ कभी भी भ्रम रूपी रात्रि नहीं होती, जहाँ केवल सुख और आनन्द ही है। इसी पुनीत सरोवर में शिव, सनकादिक आदि भक्त ही हंस के समान बिहार करते हैं; मुनि ही वहाँ मीन रूप में निवास करते हैं। प्रभु चरणों के नखों से निकलने वाला प्रकाश ही सूर्य प्रकाश के समान है। प्रभु का मुख कमल सदा प्रफुल्लित रहता है, पल भर के लिए भी वहाँ कमल को कुम्हलाने वाले चन्द्र का भय नहीं है। वेदशास्त्रों की गूँज ही जहाँ सुगन्धि है। अतः यह सरोवर ऐसा है जहाँ मोक्षरूपी मुक्ता प्राप्त होती हैं, वहाँ चलो और पुण्य कर्मों से अमृत रस का पान करो। भक्ति सागर में कुबुद्धि रूपी पक्षी भला कैसे रह सकते हैं। वहाँ तो भगवान् लक्ष्मी सहित सदा विहार करते हैं। कवि कहता है कि उस सागर की आशा में अब सांसारिक विषयासक्ति रूपी तालाव अच्छे नहीं लगते।

विशेष—प्रस्तुत पद में कवि ने भक्त के काव्य को बड़े ही आकर्षक ढंग से प्रतिपादित किया है। उस समय ज्ञानमार्गी तथा अन्य निर्गुण पन्थी भक्त आत्मा-परमात्मा के मिलने को विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे। सूरदास ने भी मन को चकवे का आदर्श रूप देकर अपनी आस्था की अभिव्यक्ति की है। चकवा-चकवी के प्रेम में मिलन और वियोग की आँख मिचौनी चलती रहती है, किन्तु भक्ति की चरमावस्था में पहुँचकर सभी प्रकार के विरोध तथा व्याघात समाप्त हो जाते हैं। चकवा रात्रि को बिछुड़ जाता है, जीव भ्रम तथा अज्ञान से भटक जाता है। भक्ति में हंस की सी सात्विकता तथा नीर-क्षीर विवेक के साथ प्रभु चरणों में आसक्ति आवश्यक है। मोह, कुबुद्धि और विषयासक्ति आदि को त्याग कर ही उस अमृत रस का पान हो सकता है। कवि ने इस भावना को बिविध प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने में सफलता पायी है।

अलंकार—(१) चकई री·······की आंस = सांगरूपक ।
(२) जिहिं सर······ पीजै = अनुप्रास ।

(४)

सिखवति चलन जशोदा मैया ।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया ।
कबहुँक सुन्दर बदन विलोकति, उर आनंद भरि लेति बलैया ।
कबहुँक कुल-देवता मनावति, चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया ।
कबहुँक बल कौं टेरि बुलावति, इहिं आँगन खेलौ दोउ भैया ।
'सूरदास' स्वामी की लीला, अति प्रताप बिलसत नंदरैया ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद वात्सल्य रसावतार महाकवि सूरदास द्वारा लिखित है । वात्सल्य के विविध पक्षों की सरस एवं मार्मिक अभिव्यक्ति करने में सूरदास विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं । प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण की बाल लीला को देखकर माता यशोदा के भावों को कवि ने चित्रित किया है । कवि का कहना है :

व्याख्या—माता यशोदा श्रीकृष्ण को चलना सिखा रही हैं । जब कृष्ण डगमगाते हुए धरती पर पाँव रखते हुए चलते हैं तो माता स्नेहाकुल होकर उसे अपना हाथ पकड़ा देती हैं । कभी तो माता अपने पुत्र का भोला-भाला सुन्दर मुख देखती हुई आनन्द मग्न हो जाती हैं और मन ही मन में अपने पुत्र पर बलि-बलि जाती हैं, तो कभी अपने कुल-देवता को स्मरण करती हुई प्रार्थना करती हैं कि उसका कुँवर कन्हैया चिरंजीवी हो । पुत्र-स्नेह में मग्न होकर यशोदा कभी बलराम को पुकार कर बुलाती हैं कि दोनों भाई इसी आंगन में मिलकर खेलो । इस प्रकार सूरदास के स्वामी श्रीकृष्ण की यह बाललीला देखकर माता यशोदा आनन्दातिरेक में मग्न हो जाती हैं । यह उसकी भक्ति का ही प्रताप है ।

विशेष—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने बालक की क्रीड़ाओं तथा उन्हें देखकर माता के हृदय में उठने वाली भावनाओं का मोहक और सजीव चित्रण किया है । मातृ हृदय की जितनी पहचान सूरदास को है उतनी किसी अन्य कवि में नहीं मिलती । पुत्र के मुख को देखकर मन ही मन बलाएँ लेना, अपने सुख में दूसरों को भी मिलाने की कामना आदि को कवि ने अपनी कल्पना से साकार कर दिया है । भाषा के माधुर्य तथा वर्णन की सहजता से वर्ण्य-विषय का आकर्षण बढ़ गया है ।

विशेष—(१) श्रीकृष्ण की बालक्रीड़ा का सुन्दर चित्रण है।

अलंकार—(२) अरबराइ कर....... पैया = अनुप्रास।

(५)

कान्ह चलत पग द्वै-द्वै धरनी।
जो मन मैं अभिलाष करति ही, सो देखति नंद-घरनी।
रुनुक-झुनुक नूपुर पग बाजत, धुनि अतिहीं मन-हरनी।
बैठि जात पुनि उठत तुरतही, सो छवि जाइ न बरनी।
ब्रज जुवती सब देखि थकित भईं, सुन्दरता की सरनी॥
चिरजीवहुँ जसुदा को नंदन, सूरदास की तरनी॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदास द्वारा रचित है। रागानुगा भक्ति करने वाले भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं तथा माधुर्य रस पूर्ण लीलाओं का बड़े मनोयोग से चित्रण किया है। प्रस्तुत पद में कवि ने कृष्ण की बाल लीला का बड़ा ही मोहक चित्र प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—बाल कृष्ण दो-दो कदम रखते हुए चलते हैं। नंद पत्नी यशोदा ने अपने मन में जो अभिलाषा की थी, आज वह उस सब को देख रही है। श्रीकृष्ण की बाललीला देखने का वरदान यशोदा ने मांगा था, आज उसी के फलस्वरूप वह कृष्ण की लीलाओं को देख रही है। कृष्ण के चलने से उनके पैरों की पायल रुनुक-झुनुक की ध्वनि करती है। यह ध्वनि अत्यन्त आकर्षक और मनोहारी है। चलते-चलते कृष्ण बैठ जाते हैं; फिर शीघ्र ही खड़े होकर चल पड़ते हैं, इस प्रकार बैठने और उठकर चलने में जो सुन्दरता तथा मोहकता है, उसका वर्णन किसी प्रकार नहीं हो सकता। कृष्ण की इन क्रीड़ाओं तथा सुन्दरता को देख-देखकर ब्रज की गोपियाँ भी चकित रह जाती हैं। सभी के मन में एक ही कामना है कि यशोदा के नन्दन श्रीकृष्ण चिरंजीव हों, यही सूरदास को भवसागर से पार कराने वाली नौका है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में कवि ने बाल-क्रीड़ा और बाल सुलभ चंचलता का साकार चित्रण किया है। कृष्ण का दो-दो कदम चलने पर गिरना, शीघ्रता से उठना आदि के साथ नूपुर की ध्वनि तथा कृष्ण का सहज सौन्दर्य सभी को आकृष्ट करते हैं। कवि स्वयं बाल-कृष्ण का उपासक है, इसलिए उसके लिए कृष्ण का यह रूप भवसागर पार करने वाला भी है।

अलंकार—(१) कान्ह.......धरनी—पुनरुक्ति प्रकाश।

(२) रुनुक झुनुक……हरनी = अनुप्रास ।
(३) ब्रज जुवती……सरनी = रूपक ।

(६)

जब दधि मथनी टेकि अरै ।
आरि करत मटुकी गहि मोहन, बासुकि संभु डरै ।
मंदर डरत, सिंधु पुनि काँपत, फिरि जन मथन करै ।
प्रलय होइ जनि गहो मथानी, प्रभु मरजाद टरै ।
सुर अरु असुर ठाढे सब चितवत, नैननि नीर ढरै ।
सूरदास मन मुग्ध जसोदा, मुख दधि-बिंदु परै ॥

प्रसंग—महाकवि सूरदास जी के इस पद में श्रीकृष्ण की बाललीला के माध्यम से भगवान् की अलौकिक शक्ति, भक्तों के प्रति भगवान् की प्रीति तथा ममतामयी माँ की भावना का त्रित्रण किया गया है ।

व्याख्या—माता योशदा दही विलो रही थीं, श्रीकृष्ण ने वाल-स्वभाव के अनुसार जिद करके मथानी को पकड़ लिया है । जिस समय कृष्ण ने मथानी और मटकी को पकड़ा, तो सारे संसार में हलचल मच गई । सम्पूर्ण विश्व समझने लगा कि शायद फिर से समुद्र मंथन होगा । वासुकि डोरी बनने के भय से तथा शंकर यह सोचकर, कि फिर हलाहल पान करना पड़ेगा, भयभीत हो गए । मंदराचल डरने लगा, सागर भी कांप उठा, सभी सोचने लगे कि प्रभु ने मथानी पकड़ ली है, कहीं प्रलय न हो जाए । इस प्रकार सभी देवता, असुर भयभीत होकर भगवान् की ओर एकटक देखने लगे । सम्पूर्ण सृष्टि की आशंका तथा भय को देखकर करुणामय कृष्ण के नेत्रों से अश्रु-विन्दु ढुलक पड़े । किन्तु माता यशोदा इस सारी हलचल से अनभिज्ञ थी, वह तो अपने बालक की जिद तथा कार्य-कलाप देखकर ही मुग्ध हो रही थी, उस समय कृष्ण के मुख पर पड़ी हुई दही की बूँदें अत्यन्त आकर्षक लग रही थीं ।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में भक्त की भावना तथा कवि की कल्पना का सौन्दर्य दर्शनीय है । बच्चे हठ करके माता के कार्यों में रुकावट डालते हैं, माताएं इसमें भी अपनी ममता का रस भर देती हैं । भक्त की दृष्टि से कृष्ण बालक होकर भी सम्पूर्ण सृष्टि के नियामक हैं, इसलिए कवि ने बालक्रीड़ा में भी अलौकिकता का मोहक समावेश किया है ।

(२) अलङ्कार—(१) आरि करत……संभु डरै = अनुप्रास ।
(२) मन्दर डरत……नीर ढरै = अतिशयोक्ति ।

(७)

कजरी को पय पियहु लाल, 'जासौं तेरी बेनि वढ़ै ।,
जैसे देखि और ब्रज वालक, त्यौं बल-वेस चढ़ै ।
यह सुनि कै हरि पीवन लागे, ज्यौं-ज्यौं लयौ लढ़ै ।
अँचवत पय तातो जब लाग्यौ, रोवत जीभि ढढ़ै ॥
पुनि पीवत हीं कच टकटोरत, झूठहिं जननि रुढ़ै ।
सूर निरखि मुख हँसति जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै ॥

प्रसंग—वात्सल्य रसावतार सूरदास ने श्रीकृष्ण की वाल लीलाओं का जो सागर दिया है; प्रस्तुत पद उसी सागर का मूल्यवान् रत्न है। इसमें कवि ने माता तथा पुत्र में चलने वाले सामान्य व्यवहार का चित्रण करते हुए वालक की चपलता तथा माता की ममता का प्रभावी चित्रण किया है।

व्याख्या—माता यशोदा कृष्ण को दूध पीने के लिए प्रेरित करती हुई कहती हैं कि हे लाल ! कजरी गाय का दूध पियो इससे तेरी चोटी वड़ी होगी। जिस प्रकार ब्रज भूमि के अन्य वालक स्वस्थ, सुन्दर तथा वलवान् हैं, उसी प्रकार होने के लिए दूध अवश्य पियो। माता की यह वात सुनकर कृष्ण जिस किसी तरह दूध पीने लगे; किन्तु शीघ्रता में दूध पीने के साथ ही जब वह गर्म लगा तो वह जिह्वा निकाल कर रोने लगते हैं। कुछ समय वाद कृष्ण दूध पीने लगे तो अपने वालों को टटोलना शुरू कर देते हैं। सिर के बालों को पहले जैसा देखकर वह माता से रूठने लगते हैं, तो यशोदा कृष्ण का मुख देखकर हँसने लगती है। माता के हृदय से वात्सल्य का सुख किसी प्रकार नहीं निकल सकता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में सूरदास ने बाल-चपलता का वड़ा ही मोहक चित्रण किया है। पारिवारिक वातावरण में माताएँ प्रायः बच्चों की चोटी वढ़ने का वहाना लगाकर दूध पिलाया करती थीं। कृष्ण की उतावली में दूध पीना अथवा दूध पीने के साथ ही उसका बालों पर प्रभाव देखना वाल स्वभाव का सही चित्रण है। बच्चों की शरारतों को देखकर ममतामयी माता की तन्मयता की कवि ने यहाँ सजीव अभिव्यक्ति की है।

अलंकार—(१) कजरी को……वैस वढ़ै=अनुप्रास।
(२) यह सुनि……जननि रुढ़ै=स्वभावोक्ति।

(८)

हरि मुख देखि हो नन्द-नारि।
महारि ऐसे सुभग सुत सौं, इतौ कोह निवारि।
सरद-मंजुल-जलज-लोचन लोल, चितवनि दीन।
मनहुँ खेलत हैं परस्पर, मकरध्वज, द्वै मीन।
ललित कन-संजुत कपोलनि लसत कज्जल अंक!
मनहुँ राजत रजनि, पूरन कलापति सकलंक।
वेगि वंधन छोरि, तन-मन वारि, लै हिय लाई।
नवल स्याम किसोर ऊपर, सूर जन वलि जाइ।।

प्रसङ्ग—प्रस्तुत पद सूरदास जी कृत वाललीला सम्बन्धी पदों से उद्धृत है। भक्तों ने वाललीला के अन्तर्गत अनेक प्रसंगों की अवतारणा की है। गोपियों की शिकायत सुनकर यशोदा ने कृष्ण को वाँध दिया, तो वह गोपियाँ यशोदा से कृष्ण को वन्धन मुक्त करने की प्रार्थना करती हैं। गोपियाँ यशोदा से कहती हैं कि—

व्याख्या—हे माता यशोदा ! श्रीकृष्ण के मुख को तो देखो, जो वन्धन में पड़कर कुम्हाला रहा है। हे नन्दरानी ! कृष्ण जैसे सुन्दर और भाग्यशाली पुत्र पर इतना क्रोध उचित नहीं, उसे समाप्त कर दो। कृष्ण के कमल जैसे सुन्दर कोमल, चंचल नेत्रों की दृष्टि में उदासी दिखायी देने लगी है। ऐसा लगता है जैसे दो मछलियाँ परस्पर खेल रही हों। आँखों से वहने वाले आँसुओं से आँखों का सम्पूर्ण काजल चेहरे पर फैल गया है। ऐसा लगता है जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा जो कि कलंकयुक्त है वह धरती पर शोभा दे रहा है। गोपियों की वात सुनकर यशोदा ने कृष्ण के वन्धन खोल दिए और अपने तन-मन को कृष्ण पर न्योछावर करते हुए उसे हृदय से लगा लिया। सूरदास कहते हैं कि किशोर कृष्ण के ऊपर मैं अपने जीवन को वलिहारी करता हूँ।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का सुन्दर चित्रण किया है। गोपियाँ उस रूपमाधुरी पर इतनी मोहित होती हैं कि वे कृष्ण को वन्धन में देख नहीं सकतीं। इसके साथ ही, मातृहृदय की भावाभिव्यक्ति करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

(२) अलङ्कार—(१) महरि ऐसे⋯ ⋯निवारि = अनुप्रास।
(२) सरद-मंजलु⋯⋯दीन = उपमा।
(३) मनहुँ⋯⋯सकलंक = उत्प्रेक्षा।

(६)

निरखि स्याग हलधर मुसुकाने ।
को बाँधे, को छोरै इनकौं, यह महिमा येई पै जाने ।
उतपति प्रलय करत हैं येई, सेष सहज मुख सुजस बखाने ॥
जमलार्जुन तरु तोरि उधारन; कारन करन आपु मन माने ।
असुर संहारन भक्तनि तारन, पावन-पतित कहावत बाने ॥
सूरदास प्रभु भाव भक्ति के, अति हित जसुमति हाथ बिकाने ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में महाकवि सूरदासजी ने भावभक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया है । लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को माता यशोदा ऊखल से बाँध देती हैं । बन्धन में पड़े श्रीकृष्ण को देखकर बलराम मन ही मन प्रभु की शक्ति तथा भक्तों के प्रति उनकी भावना आदि पर विचार करते हैं । सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति, पालन तथा संहार की शक्ति रखने वाले प्रभु भक्तों के लिए किस प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं । उसी की एक झलक प्रस्तुत पद में चित्रित है ।

व्याख्या—ऊखल से बँधे हुए श्रीकृष्ण को देखकर बलराम मन ही मन मुस्कराते हैं । सोचते हैं कि प्रभु की महिमा प्रभु ही जानते हैं । इनको कौन बाँध सकता है तथा कौन खोलने की शक्ति रखता है । यही तो संसार की उत्पत्ति तथा प्रलय करते हैं इनकी महिमा का तो शेषनाग भी अपने हजार मुखों से बखान करता है; फिर भी, महिमा को पा नहीं सकता । श्रीकृष्ण स्वयं ही सृष्टि का कारण और कार्य हैं; स्वेच्छा से सभी कार्य करने वाले प्रभु ने जमलार्जुन को मुक्त करने के लिए अपने को वृक्ष से बँधवाया है । असुरों का संहार करने, भक्तों की रक्षा तथा मुक्ति के लिए तथा पतित पावन कहलाने की प्रतिज्ञा के लिए जो प्रभु संसार में अवतार लेते हैं, वही प्रभु आज भाव-भक्ति के कारण यशोदा के हाथों बिक गये हैं ।

विशेष—(१) भक्तों की मान्यता है कि भगवान् भक्तों की रक्षा के लिए अथवा उनकी भावना से बन्धन में पड़कर पृथ्वी पर अवतार लेते हैं । सम्पूर्ण सृष्टि के नियामक प्रभु की लीला अगम है । सामान्य जन जान ही नहीं सकते किन्तु जिन पर भगवद् कृपा होती है, वे ही इसके रहस्य से अवगत रहते हैं । बलराम भी अंशावतार माने जाते हैं, उन्हीं के चिन्तन से कवि ने भगवान् की शक्ति का चित्रण किया है ।

(२) अलंकार—(१) को बाँधे……जाने = अनुप्रास ।

(२) उतपति प्रलय……बाने = उल्लेख ।

(१०)

देखि सखी मोहन मन चोरत।
नैन-कटाच्छ बिलोकनि मधुरी, सुभग भृकुटि बिबि मोरत॥
चंदन-खौरि ललाट स्याम कैं, निरखत अति सुखदाई।
मनौं एक संग गंग-जमुन नभ, तिरछी धार बहाई॥
मलयज भाल भ्रकुटि रेखा की कवि उपमा इक पाई।
मानहुँ अर्द्ध चंद-तट अहिनी, सुधा चुरावन आई॥
भ्रकुटि चारु निरखि ब्रज-सुन्दरि, यह मन करति विचार।
सूरदास प्रभु सोभा-सागर, कोउ न पावत पार॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद में सूरदास ने श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का चित्रण किया है। पुष्टिमार्ग में रागानुगा भक्ति को प्रमुखता दी गयी है। रागानुगा भक्ति के आधार सगुण, साकार, सविशेष कृष्ण की क्रीड़ाओं, उसके हाव, भाव तथा सौन्दर्य का वर्णन करने मे सभी कृष्ण भक्त कवियों ने उदात्त साहित्य की सृष्टि की है। प्रस्तुत पद में कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का चित्रण करती हुई एक सखी दूसरी को कहती है कि—

व्याख्या—हे सखी! देखो, श्रीकृष्ण का सौन्दर्य मन को अपनी ओर आकृष्ट करता है! कृष्ण नेत्रों की चितवन अपनी माधुरी से दूसरों के मन को चुरा लेती है। कृष्ण की भौंहों का तिरछापन तथा चांचल्य अत्यन्त मोहक है। श्याम के मस्तक पर चन्दन का तिलक देखने में अत्यन्त सुखद प्रतीत होता है, ऐसा प्रतीत होता है कि आकाश में गंगा-यमुना की धारा एक साथ ही तिरछी होकर वहने लगी है। मस्तक पर लगे चन्दन की सुगन्धि तथा तिरछी भृकुटी की रेखा के लिए कवि को एक ही उपमा सुन्दर प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो सर्पिणी अर्द्ध चन्द्र के पास अमृत चुराने के लिए आई हो। ब्रजांगनाएँ कृष्ण की सुन्दर और मोहक छवि को देखकर मन ही मन तरह-तरह के विचार करती हैं। सूरदास कहते हैं कि श्रीकृष्ण सुन्दरता तथा शोभा का ऐसा सागर है जिसका पार नहीं पाया जा सकता।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में कवि ने श्रीकृष्ण की अलौकिक रूपमाधुरी का सजीव चित्रण किया है। सौन्दर्य चित्रण करने के लिए कवि ने प्रसिद्ध उपमानों का सफल प्रयोग किया है। चन्दन की धवलिमा तथा कृष्ण की श्यामता को गंगा-जमुना, भृकुटि रेखा को सर्पिणी आदि उपमानों से सजीवता प्राप्त हुई है।

कवि ने श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी को पुष्टिमार्गी मान्यताओं के अनुरूप चित्रित करने में सफलता प्राप्त की है।

अलङ्कार—(१) चंदन खौरि ......धार बहाई = उत्प्रेक्षा।

(२) मलयज........चुरावन आई = रूपक।

(३) भृकुटि.......पावत पार = अनुप्रास।

(११)

स्याम-कमल-पद-नख की सोभा।
जे नख-चंद्र सनक मुनि परसे, सिव बिरंचि मन लोभा॥
जे नख-चंद्र इन्द्र-सिर ध्यावत, नहिं पावत भरमाहीं।
ते नख-चंद्र प्रगट ब्रज-जुवती, निरखि-निरखि हरषाहीं॥
जे नख-चंद्र फनिक-हृदय तैं, एकौ निमिष न टारत।
जे नख चंद्र महा मुनि नारद, पलक न कहूँ बिसारत॥
जे नख-चंद्र-भजन खल नासत, रमा हृदय जे परसति।
सूर स्याम-नख-चंद्र-विमल-छवि, गोपी जन मिलि दरसति॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद सूरदास द्वारा श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी सम्बन्धी पदों में से एक है। अपने आराध्य के चरण-कमल की वन्दना करते हुए कवि ने श्रीकृष्ण के पद-नखों की महानता का चित्रण किया है। परात्पर ब्रह्म, देवाधिदेव लीला पुरुषोत्तम के चरणों का ध्यान करते हुए गोपियाँ जिस आनन्द का अनुभव करती हैं, उसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

व्याख्या—श्रीकृष्ण के चरण रूपी कमलों के नख इतने शोभाशाली हैं कि जिनका वर्णन नहीं हो सकता। चन्द्रमा के समान इन नखों को इन्द्र ने अपने मस्तक से लगाया; कवि और ब्रह्मा का मन इन्हीं नखों को देखने के लिए लालायित रहता है। इन्हीं का सनकादिक ऋषि हर समय ध्यान करते रहते हैं किन्तु वे भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, अपितु उस शोभा में मोहित होकर भटकते रहते हैं। इन्हीं चरणों की शोभा को देख देखकर व्रज की गोपांगनाएँ प्रसन्न होती हैं। इन्हीं चरणों को शेषनाग अपने हृदय में बसाये रहता है और एकटक इन्हें ही देखता रहता है। महामुनि नारद भी जिन नखों की भक्ति में मग्न रहते हुए पल भर के लिए भी उन्हें विस्मृत नहीं करते, जिनके भजन करने से सभी दुष्ट प्रवृत्तियों का नाश हो जाता है, स्वयं लक्ष्मी जिन्हें अपने हृदय से लगाए रहती हैं ऐसे सुन्दर, सुभग, मुक्तिदायी एवं भक्तों के हितकारी नखों की शोभा का गोपियाँ मिलकर दर्शन करती हैं।

विशेष—(१) रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत भगवान् के रूप-सौन्दर्य को विशेष महत्त्व दिया जाता है। भक्तों का काम है—भगवान् के चरण कमलों का सान्निध्य। इन्हीं चरणों की रज लेने के लिए सभी देवता, ऋषि, मुनि, योगी और ज्ञानी तरह-तरह के उपाय करते हैं, किन्तु सच्चा भक्त ही उन चरणों का सान्निध्य प्राप्त करता है। पुष्टिमार्ग में गोपियों को भक्ति का आदर्श रूप माना जाता है; यही कारण है कि सूरदासजी ने उपर्युक्त पद में ब्रह्मा, शिव, नारद आदि की अपेक्षा गोपियों को प्रभु चरणों के अधिक निकट दिखाया है।

अलङ्कार—(१) जे नख चन्द्र...... मन लोभा=रूपक।

(२) जे नख...... निरखि हरषाही=पुनरुक्तिप्रकाश।

(१२)

राजति रोम-राजी रेख।
नील घन मनु धूम धारा, रही सूच्छम सेष॥
निरखि सुन्दर हृदय पर, भृगु-पाद परम सुलेख।
मनहुँ सोभित अभ्र-अन्तर, संभु-भूषन वेष॥
मुक्त-माल नछत्र-गन सम, अर्द्ध चन्द्र बिसेष।
सजल उज्जल जलद मलयज, प्रवल वलिनि अलेष॥
केलि कच सुर-चाप की छवि दसन तड़ित सुपेष।
सूर प्रभु की निरखि सोभा, तजे नैंन निमेष॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद में सूरदास ने श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का चित्रण किया है। कृष्ण के श्यामल बदन पर शोभित विविध उपकरणों तथा उनके अंग-प्रत्यंग में प्रकृति के विभिन्न उपकरणों की शोभा की झलक प्रस्तुत करते हुए कवि ने वह झाँकी प्रस्तुत की है जिसे देखकर भक्त सब कुछ विस्मृत करके आनन्दमग्न हो जाते हैं।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के शरीर पर रोमावली की रेखा शोभित है, ऐसा प्रतीत होता है जैसे नीले बादलों में धुएँ की धारा अत्यन्त सूक्ष्म रूप से शेष रह गयी है। प्रभु के हृदय पर भृगु के चरणों का चिन्ह बहुत सुन्दर रूप से अंकित है, ऐसा दिखाई देता है जैसे बादलों के बीच, शंकर भगवान् का आभूषण-चन्द्रमा शोभा दे रहा हो। गले में पड़ी मोतियों की माला ही आकाश के नक्षत्रों के समान है। कृष्ण का श्यामल वर्ण सुगन्धित, काले बादलों के समान है। काले घुँघराले बालों के साथ पीताम्बर की शोभा से उनका सौन्दर्य इन्द्र धनुष के समान दीखता है, कृष्ण के दाँतों की चमक ही जहाँ बिजली के समान

दीखती है। सूरदास कहते हैं कि श्रीकृष्ण की शोभा को देखकर मोर, चकोर और भक्त बिना पलक गिराए उन्हें एकटक देखते रहते हैं।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में कवि ने परम्परागत उपमानों का प्रयोग करते हुए श्रीकृष्ण के सहज किन्तु प्रभावी सौन्दर्य का चित्रण किया है। रूप-सौन्दर्य अथवा नख-शिख का वर्णन करते हुए कवि ने बादलों का रूपक बाँधकर जिस प्रकार अपने वक्तव्य को सजीव बनाया है, उससे कवि की कल्पना तथा प्रतिभा की महानता का परिचय मिलता है।

(२) अलङ्कार—(१) राजति·······रेष=अनुप्रास।
(२) नीलघन·······भूषन वेष=उत्प्रेक्षा।
(३) नीलघन·······तड़ित सुपेप=सांगरूपक।
(४) केकि कच·······निमेष=भ्रांतिमान।

(१३)

मुरली कैं बस स्याम भए री।
अधरनि तैं नहिं करत निनारी, वाकैं रंग रए री॥
रहत सदा तन-सुधि बिसराए, कहा करन धौं चाहति।
देखी, सुनी न भई आज लौं, बाँस बँसुरिया दाहति॥
स्यामहिं निदरि, निदरि हमहूँ कौ, अबहिं तैं यह रूप।
सुनहु सूर हरि कौ मुँह पाएँ, बोलति बचन अनूप॥

प्रसंग—कृष्ण भक्ति शाखा में भक्तों ने श्रीकृष्ण की लीला से सम्बन्धित विभिन्न उपकरणों की महिमा का भी गान किया है। दार्शनिक दृष्टि से वंशी को विश्व की संचालिका शक्ति मानकर उसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। वेणु गीत के द्वारा रागानुगा भक्ति की तीव्रता दर्शायी गयी है। गोपियों के हृदय में वंशी के प्रति अत्यधिक ईर्ष्या थी; क्योंकि, श्रीकृष्ण सदा ही उसे अपने साथ रखते थे। प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने मुरली के प्रति गोपियों की भावना का प्रतिपादन किया है। सखियाँ परस्पर वार्ता करती हुई मुरली के प्रति कृष्ण के लगाव का बखान करती हैं।

व्याख्या—सखी, श्यामसुन्दर तो वंशी के अधीन हो गए हैं। श्रीकृष्ण मुरली के प्रेम रंग में इतने रंग गए हैं कि पल भर के लिए भी उसे अपने अधरों से अलग नहीं करते। पता नहीं कि यह बाँसुरी क्या कराना चाहती है; क्योंकि, इसके अधीन होकर श्रीकृष्ण हर समय अपने तन-बदन की सुधि भुलाए रहते हैं। जिस प्रकार यह बाँसुरी हमारा दिल जलाती रहती है, वैसा

पहले कभी देखा या सुना भी नहीं था। यह वंशी तो अभी से श्याम की उपेक्षा करने लगी है, वह हम सब का भी निरादर करती है, किन्तु जब यह भगवान् कृष्ण के अधरों को स्पर्श करती है तो अनुपम स्वर लहरी से सभी के मन को आकृष्ट करती है।

विशेष—(१) वाह्य रूप से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि गोपियाँ वंशी से ईर्ष्या करती हैं। अपने प्रेमास्पद के साथ किसी अन्य की अनुरक्ति देख कर ईर्ष्या होना स्वाभाविक ही है, किन्तु उपासना की दृष्टि से अपने आराध्य से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु का गुणगान आवश्यक माना जाता है। गोपियाँ कृष्ण से अनन्य प्रेम करती हैं अत वे क्षण भर के लिए भी उससे किसी अन्य का सम्बन्ध सहन नहीं कर पातीं। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही इस प्रकार के पदों की सृष्टि हुई है।

अलङ्कार—अधरनि तें—रएरी = अनुप्रास।

(१४)

> मुरली भई स्याम-तन-मन-धन।
> अब वाकौं तुम दूरि करावति, जाके बस्य भय नन्द-नन्दन।
> कबहुँ अधर, कबहूँ राखत कर, कबहूँ गावत हैं हिरदैं धरि।
> कबहुँ बजाइ मगन आपुन ह्वै, लटकि रहत मुख धरि तापर ढरि।
> ऐसे पगे रहत हैं जासौं, ताहि करति कैसैं तुम न्यारी।
> सूर स्याम हम सबनि बिसारी, वह कैसैं अब जाति बिसारी॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद में सूरदास ने मुरली की महिमा का चित्रण किया है। कृष्ण का मुरली के प्रति अत्यधिक अनुराग देखकर गोपियों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है; वे कृष्ण से मुरली को अलग करने का प्रयत्न भी करती हैं, किन्तु असफल रहने पर उनके उत्कट अनुराग तथा अपनी विवशता को प्रकट करते हुए परस्पर वार्ता करती हैं।

व्याख्या—हे सखी ! यह मुरली तो श्रीकृष्ण का तन, मन और धन सभी कुछ बन गई है, जिसे अपना सर्वस्व मानकर नन्दनन्देन कृष्ण उसके अधीन हो गए हैं, अब तुम उन्हें दूर करना चाहती हो, यह भला कैसे हो सकता है। श्री कृष्ण कभी तो मुरली को अपने ओठों पर रख लेते हैं, कभी हाथ में ले लेते हैं तो कभी उसे हृदय से लगाकर मधुर-मधुर गीत गाते हैं। कभी-कभी वंशी बजाते हुए इतने तन्मय हो जाते हैं कि मुरली पर अपना मुख रखकर खड़े रह जाते हैं। जिस मुरली के प्रेम में श्रीकृष्ण इतने रंगे हुए हैं, उसे तुम अलग करना

चाहती हो। यह उचित नहीं है। जिस वंशी के प्रेम में पड़कर कृष्ण ने सभी गोपियों को भुला दिया है वह भला अब कैसे भलाई जा सकती है।

विशेष—(१) प्रभु की रागानुगा भक्ति करने वालों में कृष्ण के अतिरिक्त उनसे सम्बद्ध अन्यान्य वस्तुओं के प्रति तीव्र अनुराग है। मुरली के प्रति ईर्ष्या उनके प्रेमी हृदय की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। मुरली के प्रेम की उत्कटता के कारण ही गोपियों ने उसे अलग करने में अपनी विवशता व्यक्त की है। गोपियों की मनःस्थिति तथा कृष्ण द्वारा मुरली के विभिन्न व्यापारों को कवि ने सरल किन्तु आकर्षक ढंग से चित्रित किया है।

(२) अलङ्कार—(१) सम्पूर्ण पद में·······व्याजस्तुति।

(२) कबहूँ अधर ······ धरि = अनुप्रास।

(१५)

मुरली हम कहँ सौति भई।
नैंकु न होति अधर तैं न्यारी, जैसैं तृषा डई॥
इहँ अँचवति, उहँ डारति लै-लै, जल थल बननि दई।
जो रस कौं व्रत करि तनु गार्‌यो, कीन्ही गई गई॥
पुनि-पुनि लेति, संकुच नहि मानति, ऐसी भई-दई।
कहा धरै वह बाँस साँस की, आस निरास भई॥
ऐसी कहूँ गई नहिं देखी, जैसी भई नई।
सूर वचन याके टोना से, सुनत मनोज जई॥

प्रसंग—गोपियाँ रागानुगा भक्ति में मग्न वे जीवात्माएँ है जो श्रीकृष्ण की पुष्टि की विशेष अधिकारिणी मानी जाती हैं। श्रीकृष्ण को अपने मन प्राण का आधार मानने वाली गोपियाँ मुरली को हर समय श्रीकृष्ण के साथ ही देखकर व्यथित होती हैं। उनके हृदय में मुरली के प्रति ईर्ष्या के माध्यम से कवि सूरदास ने उनके हृदय में प्रभु भक्ति की भावना को इस पद में चित्रित किया है। गोपियाँ मुरली की निन्दा करते हुए तथा उसके स्वरों की मादकता का वर्णन करते हुए कहती हैं कि—

व्याख्या—यह मुरली तो हमारे लिए सौत बन गई। इतनी अधिक प्यास बढ़ गई है कि श्रीकृष्ण के अधरों से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होती है। श्रीकृष्ण के सुधारस पूर्ण अधरों का पान करके यह इधर-उधर बिखेर देती है, जिससे जल, थल तथा वन-उपवन आदि सभी भर गए हैं। जिस अमृत रस को पीने के लिए हम सब ने अनेक प्रकार के व्रत, साधना करते हुए

शरीर को रती-रती करके गला दिया है, उस रस को यह बिना किसी संकोच के बार-बार पीती है। यह कैसा दुर्भाग्य है कि इस बाँस की बाँसुरी के कारण हम बस की आशा-निराशा में परिणत हो गई है। आज जिस प्रकार मुरली में अमृत रस पान करने की क्षमता अथवा श्रीकृष्ण के अत्यन्त निकट रहने का सौभाग्य प्राप्त है, ऐसा पहले कभी देखा या सुना नहीं। उस मुरली से ध्वनित होने वाले स्वरों में एक ऐसा जादू है जिसके सुनने के साथ ही कामदेव पर विजय प्राप्त करने वाले भी उससे प्रभावित हो जाते हैं।

विशेष—(१ प्रस्तुत पद में गोपियों के मन में मुरली के प्रति ईर्ष्या भाव वस्तुतः श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग की ही अभिव्यक्ति है। धार्मिक दृष्टि से यह माना जाता है कि कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए गोपियों ने अनेक प्रकार के व्रत उपवास किए थे। मुरली को श्रीकृष्ण के अत्यधिक निकट देखकर गोपियों के मन में उठने वाली भावनाओं का चित्रण करने में कवि को अपूर्व सफलता मिली है।

(२) अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद में·······व्याजस्तुति।

(२) इहं संचवित·· · ··वई = अनुप्रास।

(३) जा रस·· ····भह दई = पुनरुक्तिप्रकाश।

(१६)

ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु ?
पुछहु जाए स्याम सुन्दर को, जिहिं दुख जुर्यो सनेहु ॥
जन्मत ही मैं भई विरत चित; तज्यो गाउँ, गुन गेहु।
एकहि पाउँ रही हौ ठाढ़ी, हिम, ग्रीषम-ऋतु देहु ॥
तज्यो मूल साखा-सुपुत्र सब, सोच सुखानी देहु।
अगिनि सुलाकत मुर्यो न तन मन, विकट बनावत बेहु ॥
चकतीं कहा बाँसुरी कहि-कहि करि-करि तापस तेहु।
सूर स्याम इहिं भाँति रिझै, किनि-किन, तुमहुँ अधर रस लेहु।

प्रसंग--प्रस्तुत पद में महाकवि सूरदास ने मुरली की महिमा का वर्णन किया है। गोपियाँ मुरली को लेकर तरह-तरह के व्यंग करती हैं, अपने व्रत-उपवास का उल्लेख करते हुए मुरली से ईर्ष्या प्रकट करती हैं, जिसे सुनकर वंशी गोपियों को समझाते हुए श्रीकृष्ण के प्रति अपनी आस्था इस प्रकार प्रकट करती है—

व्याख्या—हे गोपियों ! तुम सब मुझे उलाहना क्यों देती हो, तुम सभी

स्वयं श्यामसुन्दर से जाकर पूछ लो जिसने मेरे दुःख को अपने स्नेह से मिटा दिया है। गोपियों के व्रत-उपवास आदि का उत्तर देते हुए वंशी कहती है कि उसका मन तो जन्म काल से ही सांसारिक ऐषणाओं से विरक्त हो गया था, इसीलिए अपना गाँव, गुण अथवा घर सभी को त्याग दिया था। प्रभु को प्राप्त करने के लिए निरन्तर एक पाँव पर खड़े रहकर मैंने घोर तपस्या की है और ग्रीष्म, शीत तथा वर्षा आदि का प्रकोप भी सहन किया। वंशी बनने से पहले मैंने अपनी शाखाएँ तथा पत्ते सभी को त्याग दिया, प्रभु चिन्तन करते-करते शरीर भी सूख गया। इतना ही नहीं, मुझे आग में भी डाला गया किन्तु फिर भी मेरा तन-मन डगमगाया नहीं। ऊपर से मेरे शरीर में छेद भी किए गए। यह सब होने पर ही मुझे श्रीकृष्ण के अधरामृत की प्राप्ति हुई है। आप सभी मुझे बाँसुरी कह-कहकर अपनी तपस्या की बात कहती हो किन्तु श्रीकृष्ण इस प्रकार रीझे नहीं, तुम भी ऐसी साधना करके श्याम के अधरामृत को क्यों नहीं पा लेतीं।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में प्रेम की नोंक-झोंक के साथ भक्तिपद्धति की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। गोपियों में व्रत-उपवास आदि का कुछ अभिमान हो गया था; बाँसुरी ने अपने जीवन का उल्लेख करके उनके समक्ष पूर्ण आत्म-समर्पण भाव की प्रतिष्ठा की है। वंशी के निर्मित होने के क्रम में भक्ति मार्ग की बाधाओं की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः भक्त सभी प्रकार की कामनाओं को कृष्ण के चरणों में समर्पित कर देते हैं। सूरदास ने इस भावना को प्रस्तुत पद में साकार कर दिया है।

(२) अलङ्कार—(१) पूछहु……सुखानी देहु—स्वभावोक्ति।

(२) बकतीं कहा……तापस तेहु—पुनरुक्तिप्रकाश।

(१७)

लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसैं छूटत।
कहा कहौं ब्रजनाथ चरित, अन्तरगति लूटत॥
वह चितवनि वह चाल मनोहर, वह मुसुकानि मन्द धुनि गावनि।
नटवर-भेष नन्दनन्दन कौ वह विनोद, वह बन तें आवनि॥
चरण कमल की सौंह करति हौं, यह संदेस मोहिं विष लागत।
सूरदास पल मोहिं न विसरति, मोहन मूरति सोवत जागत॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद सूरदास कृत भ्रमर-गीत से उद्धृत है। कृष्ण भक्ति साहित्य में भ्रमरगीत का विशेष महत्त्व है। ज्ञान-योग, निर्गुण-भक्ति आदि

का प्रतिवाद करके सगुण-साकार की भक्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए, गोपियों के माध्यम से रागानुगा भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए सभी प्रमुख कृष्ण भक्तों ने भ्रमर-गीत की सृष्टि की है। प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव का संदेश सुनकर अपनी भक्ति-भावना का प्रतिपादन करती हुई कहती हैं—

व्याख्या—हे सखी ! तुम्हीं बताओ कि लड़कपन का प्रेम कैसे छूट सकता है। श्री ब्रजनाथ के चरित्र का वर्णन कैसे हो सकता है, उसने तो हमारा अन्तर्मन ही जीत लिया है। श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य तथा कार्य-व्यापार को स्मरण करते हुए गोपिका कहती है कि श्रीकृष्ण की वह आकर्षक और मोहक दृष्टि, देखने वालों का मन मोहित करने वाली गति, मधुर मुस्कान तथा मन्द-मन्द स्वरों में वंसी ध्वनि गाते हुए, बहुत मोहक वेश-भूषा में हँसते-हँसते हुए वन से लौटना आदि हमारे हृदय में ऐसे समा गया है कि जो किसी प्रकार भी कम नहीं हो सकता। उद्धव के योग और ज्ञानपूर्ण संदेश के विषय में वह कहती है कि प्रभु के चरण कमलों की सौगन्ध खाकर कह सकती हूँ कि यह संदेश उसे विष के समान लगा है। प्रभु की मूरति तो हृदय से एक पल के लिए भी विस्मृत नहीं होती है, सोते-जागते मोहन की मोहक मूर्ति मन में समाये रहती है।

विशेष—(१) भ्रमर-गीत प्रसंग हिन्दी-साहित्य में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक दृष्टि से इसमें सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा की गई है, सामाजिक दृष्टि से इसमें पुरुष के स्वार्थ तथा नारी के समर्पण, भावुकता आदि की अभिव्यक्ति हुई है। प्रस्तुत पद में गोपियों ने "लरिकाई कौ प्रेम" कहकर प्रेम की शुद्धता, तीव्रता आदि को व्यक्त किया है।

(२) **अलङ्कार**—(१) वह चितवनि……गावति = अनुप्रास।
(२) चरन कमल…… लागत = रूपक।

(१८)

बिलग जनि मानहु ऊधौ प्यारे।
वह मथुरा काजर की ओबरी, जे आवैं ते कारे॥
तुम कारे, सुफलक सुत, कारे, कारे कुटिल भँवारे।
कमलनैन की कौन चलावै, सबहिनि मैं मनियारे॥
मानो नील माट तें काढ़े, जमुना आइ पखारे।
तातैं स्याम भई कालिंदी, सूरस्याम गुन न्यारे॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद 'भ्रमर-गीत' से उद्धृत है। उद्धव गोपियों को निर्गुण

भक्ति का उपदेश देते हैं। गोपियाँ तो कृष्ण प्रेम में पगी हुई थीं, इसलिए उन्हें उक्त सन्देश अच्छा नहीं लगता। इसलिए गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधन करते हुए उद्धव को सुनाती हैं कि—

व्याख्या—श्याम रंग वाले उद्धव भी अन्य लोगों से अलग नहीं हैं। वह मथुरा तो काजल की कोठरी है, वहाँ से जो भी आता है वह काला ही होता है। उद्धव काले हैं, श्रीकृष्ण को मथुरा ले जाने वाले अक्रूर भी काले हैं, भँवरे भी काले हैं। वस्तुतः जितने भी श्याम वर्ण वाले होते है वे सभी कुटिल होते है। इन सभी में कमल जैसे नेत्र वाले श्रीकृष्ण की बात तो क्या की जाये, वे तो सभी से मिलकर अधिक शोभाशाली हो गये हैं। गोपियाँ अपने व्यंग्य को और तीव्र करती हुई कहती हैं कि ऐसा लगता है कि वे सभी नील के मटके से निकाल कर यमुना में धोये गये हैं, जिससे यमुना का रंग भी नीला हो गया है। वस्तुतः श्यामसुन्दर के गुण सर्वथा अनोखे हैं।

विशेष—(१) प्रेमाभक्ति में लीन गोपियों का उपर्युक्त व्यंग्य उनकी भक्ति तथा श्रीकृष्ण के व्यवहार को प्रकट करने में समर्थ है। भारतीय समाज में स्वार्थी, छली, कपटी *अथवा अत्यधिक प्रिय के लिए प्रायः 'कारे' शब्द का प्रयोग* किया जाता है। कृष्ण, अक्रूर, उद्धव तथा भ्रमर आदि में इसी भाव की समानता देखते हुए गोपियों के इस कथन की मार्मिकता बढ़ गई है।

(२) अलङ्कार—(१) वह मथुरा·······कारे=रूपक।

(२) तुम कारे ······ मनियारे=श्लेष, वक्रोक्ति।

(३) मानो·······गुन न्यारे=उत्प्रेक्षा।

(१६)

तुम तो कहत संदेसो आनि।
कहा कहैं वा नंदनंदन सौं, होत नहीं हित हानि॥
जुगुति मुकुति किहिं काज हमारैं जदपि महा सुख खानि।
मनी सनेह स्याम सुन्दर सौं, हिलि मिलि कै मन मानि॥
सोहत लोह परसि पारस कौ, ज्यौं सुबरन बन बानि।
पुनि वह कहा चारु चुंबन सौं, लटपटाइ लपटानि?
रूप रहित निरगुन नीरस नित, निगमहु परत न जानि।
सूरदास कौन विधि, तासौं, अब कीजै पहिचानि॥

प्रसंग—सूरदास द्वारा लिखित 'भ्रमर-गीत' के प्रस्तुत पद में गोपियाँ योग

ज्ञान तथा निर्गुण ब्रह्म का प्रतिवाद करती हुई सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा करती हैं। उद्धव ने तरह-तरह के उपदेश दिये किन्तु गोपियाँ तो श्रीकृष्ण की ही कथा सुनना चाहती हैं अतः उद्धव की बात को काटते हुए कहती हैं कि—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुमने तो आकर हमें नन्दनन्दन श्रीकृष्ण का संदेश सुनाया है। भला उससे क्या कहें, वह तो कुछ भी कह सकता है, किन्तु हमारे प्रेम में इससे किसी प्रकार का अन्तर नहीं आ सकता। तुमने योग, मुक्ति तथा उसके लिए विविध युक्तियाँ हमें सुनाईं जो वास्तव में महान् सुख का भण्डार हैं, फिर भी ये सभी हमारे किसी काम की नहीं। हम सभी तो श्रीकृष्ण के प्रेम में मग्न हैं, उनके साथ तरह-तरह की लीलाएँ करते हुए हमारे मन में वह हमेशा के लिए समा चुके हैं। जिस प्रकार लोहा पारस पत्थर का स्पर्श पाकर स्वर्ण में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार हमारा हृदय श्यामसुन्दर के प्रेम का स्पर्श पा चुका है। अब चाहे उसका आलिंगन हो या चुम्बन हो अथवा उसे अपने साथ लगा लिया जाये, सोने में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। हे उद्धव। तुमने जिस निर्गुण ब्रह्म का वर्णन किया है वह सभी प्रकार के रूप में गुण से रहित तथा नीरस है। वेद शास्त्रों को भी उसकी पहचान नहीं हो पायी, अतः तुम्हीं बताओ कि अब उसकी पहचान किस प्रकार हो सकती है।

विशेष—(१) भ्रमर-गीत की गोपियों ने उद्धव के विविध तर्कों का अपनी भावुकता से प्रतिवाद किया है। कल तक जिसके साथ उन्होंने विविध क्रीड़ाएँ की थीं, आज उसे ही निर्गुण मानना उनके लिए सरल रूप में संभव न था। जिसे श्रुति भी 'नेति नेति' कहकर मौन हो गयी, उस निर्गुण को अपनाना भी अच्छा नहीं लगा। गोपियों की मनःस्थिति का चित्रण करने में सूरदास की भावुकता तथा प्रतिभा को सफलता मिली है।

अलंकार—(१) कहा कहैं.......हानि = अनुप्रास।

(२) जुगुति.......खानि = प्रतीप।

(३) रूप रहित.......पहिचानि = वक्रोक्ति।

(२०)

हमकौं हरि की कथा सुनाउ।
ये आपनी ज्ञान गाथा अलि, मथुरा ही लै जाउ॥
नागरि नारि भलैं समझैं जो, तेरो वचन बनाउ।
पा लागौं ऐसी इन बातनि, उनहीं जाइ रिझाउ॥

जौ सुचि सखा श्यामसुन्दर कौं, अरु जिय मैं सति भाउ।
तौ बारक आतुर इन नैननि हरि मुख आनि दिखाउ॥
जो कोउ कोटि करै कैमिहुँ विधि, वल विद्या व्यवसाउ।
तउ सुनि सूर मीन कौ जल विनु, नाहिन और उपाउ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद महाकवि सूरदास कृत 'भ्रमर-गीत' से उद्धृत है। उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर आए, उन्होंने योग और ज्ञान का उपदेश दिया; श्रीकृष्ण को छोड़कर ब्रह्म के निर्गुण रूप का बखान किया किन्तु गोपियों के प्रेमाकुल हृदय को यह उपदेश कैसे अच्छा लगता ! वे अपनी अज्ञानता में ही जीवन की परम सफलता मानती हैं और उद्धव से श्रीकृष्ण की ही गाथा सुनाने का आग्रह करती हैं। भ्रमर को सम्बोधन कर गोपी कहती हैं कि—

व्याख्या—हे अलि ! हमें तो भगवान् श्रीकृष्ण की ही कोई प्रेम रसपूर्ण बात सुनाओ और अपने ज्ञान की यह गठरी वापस मथुरा ही ले जाओ; क्योंकि नगर की चतुर नारियाँ ही तुम्हारी बातों को भली प्रकार समझ सकेंगी। हे उद्धव ! हम तो तुम्हारे पैरों में झुककर प्रार्थना करती हैं कि ऐसी बातों से उन्हें ही जाकर सुनाओ; क्योंकि तुम्हारी ज्ञान भरी बातों को सुनकर वे ही प्रसन्न हो सकती हैं। यदि तुम वास्तव में श्यामसुन्दर के मित्र हो और तुम्हारे मन में यदि कोई सच्चाई है तो एक बार हमारी विरहाकुल आँखों को श्रीकृष्ण का वह सुन्दर सलोना रूप दिखा दो। यदि कोई व्यक्ति करोड़ों प्रकार के प्रयत्न करे तो भी जबर्दस्ती ज्ञान की बातें किसी के मस्तिष्क में उतर नहीं सकतीं। बल और विद्या के अनेक प्रयत्न करने पर भी जैसे मछली के जीवन को बचाने के लिए जल के बिना और कोई उपाय नहीं है, उसी प्रकार हम सबकी आकुलता का एक ही उपाय है, श्रीकृष्ण के सुन्दर स्वरूप का दर्शन; इसलिए हमें ज्ञान का उपदेश देने की अपेक्षा श्यामसुन्दर की कथा सुनाओ अथवा उनकी ही कोई कथा सुनाओ।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में गोपियों की भावुकता, अनन्यता तथा प्रेमाकुलता का सजीव और मार्मिक चित्रण हुआ है। अपने को कृष्णानुराग में मग्न तथा मथुरा की नारियों को अधिक चतुर कहने में ज्ञान की निरर्थकता तथा भक्ति की सहजानुभूति की अभिव्यक्ति हुई है।

(२) अलंकार—(१) ये अपनी······जाइ रिझाऊ = वक्रोक्ति।

(२) नागरि नारि······बनाऊ = अनुप्रास।

(३) जौ कोउ······उपाऊ = उदाहरण।

(२१)

नव तैं इन सबहिनि सचु पायौ ।
जब तैं हरि संदेश तुम्हारौ, सुनत तांवरौ आयौ ।।
फूले व्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेटि भर खायौ ।
खोले मृगनि चौक चरननि के, हुतौ जु जिम बिसरायौ ।।
ऊँचे बैठि विहंग सभा मैं, सुक बनराइ कहायौ ।
किलकि-किलकि कुल सहित आपनैं, कोकिल मंगल गायौ ।।
निकसि कंदराहू तैं केहरि, पूंछ मूड़ पर ल्यायौ ।
गहवर तैं गजराज आइकै, अंगहि, गर्व बढ़ायौ ।।
अब जनि गहरु करहु हो मोहन, जो चाहत हो ज्यायौ ।
सूर बहुरि ह्वै है राधा कौं, सब बैरिन कौ भायौ ।।

प्रसंग—प्रस्तुत पद सूरदास के भ्रमर-गीत से उद्धृत है । श्रीकृष्ण के वियोग में गोपियाँ व्याकुल और कृशकाय हो चुकी थीं । उद्धव द्वारा ज्ञान आदि का संदेश सुनकर उनकी व्यथा में वृद्धि हुई । इस पद में कवि ने राधा के शरीर की स्थिति का सांकेतिक वर्णन करते हुए गोपियों की मनःस्थिति को व्यक्त किया है । राधा के शारीरिक सौन्दर्य के समक्ष प्रकृति के जो तत्त्व छुप गए थे, अब उसकी उदासी तथा कृशता के कारण सभी खुलकर अपने कार्य व्यापार में संलग्न हो चुके हैं । गोपियाँ कहती है कि—

व्याख्या—जब से श्रीकृष्ण का संदेश लेकर उद्धव आए हैं तब से वास्तव में उन सबने सुख प्राप्त किया है जो अभी तक किसी कारण से छुपे हुए थे । राधिका की सर्पिणी सी वेणी के समक्ष सर्पिणी छुप गयी थी, आज वह अस्त-व्यस्त है इसलिए सर्प अपने बिलों से बाहर आकर जी भर वायु भक्षण करने लगे हैं । श्री राधिका की आँखों को देखकर हिरण भी अपने आपको विस्मृत कर देते थे, आज वही आँखें निरन्तर अश्रु बहाती रहती हैं, जिससे मृग भी चौकड़ियाँ भरते रहते हैं । आज तो तोता भी पक्षियों के झुण्ड में ऊँचे-स्थान पर विराजमान होता है । कोकिल कण्ठी राधिका मौन है, इसलिए कोयल भी अपने वर्ग के साथ मंगल गीत गाती है । सिंह अभी तक तो छिपा हुआ था । किन्तु अब वह भी अपनी कन्दरा से बाहर आकर अभिमान से चलता है । गजराज भी अपने शरीर से अभिमान प्रकट करने लगा हैं । इसलिए हे कृष्ण ! यदि तुम राधा को जीवित रखना चाहते हो तो अब विलम्ब न करो । फिर

से आकर राधा को दर्शन दो ताकि उनके सभी शत्रुओं के मन की इच्छा पूरी न हो।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में कवि ने काव्य-शास्त्र में वर्णित विभिन्न उपमानों के माध्यम से राधा की जिस दशा का वर्णन किया है वह अत्यन्त सार्थक तथा कवि प्रतिभा की परिचायक है। सूरदास जी ने काव्य परम्परा सम्बन्धी अपने ज्ञान को जिस सरलता तथा भावुकता से प्रस्तुत किया है वह अपने आप में अपूर्व है।

(२) **अलंकार**—(१) सम्पूर्ण पद में—अन्योक्ति।

(२) किलकि ......गायो—अनुप्रास।

(२२)

ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी, अरु कुंजन की छाँहीं।
वै सुरभी वै बच्छ दोहिनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मुनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तनु नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नन्द निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद सूरदास कृत 'भ्रमर-गीत' से उद्धृत है। उद्धव गोकुल से लौटे तो वह गोपियों की भक्ति-भावना से पूरी तरह प्रभावित थे। जब उन्होंने श्रीकृष्ण को ब्रज की दशा सुनाई तो स्वयं श्रीकृष्ण भी ब्रज की स्मृति में आत्म विभोर हो गए। उसी मनःस्थिति का प्रस्तुत पद में चित्रण किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

व्याख्या—उद्धव मुझे ब्रज भूमि पलभर के लिए भी नहीं भूलती। यमुना का सुन्दर तथा मोहक तट और उस पर घने कुन्जों की छाया-सभी की हर समय याद आती रहती है। वे गायों और बछड़ों के साथ वन में जाना, दूध दूहना तथा गोधूलि के समय ग्वाल-बालों के साथ कोलाहल करते हुए एक-दूसरे के गले में बाहें डालकर, नाचते, गाते तथा झूमते हुए गाँव को लौटना पलभर के लिए भी नहीं भूलता। यह मथुरा जो धन, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य के कारण सोने की नगरी है, जहाँ नाना प्रकार की मणि और मोती हैं, वहाँ रहते हुए भी जब मुझे उस सुख की याद आती है तो मेरा मन आनन्दमग्न हो जाता है. केवल शरीर

ही यहाँ रह जाता है। व्रज में मैंने अनगिनत लीलाएँ कीं और नन्द बाबा तथा माता यशोदा ने उन्हें सभी प्रकार पूरा किया। इस प्रकार व्रजभूमि को स्मरण करते-करते श्रीकृष्ण मौन हो गए और मन ही मन कुछ कहकर जैसे उस सुख की स्मृति में पश्चात्ताप करने लगे।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण की भावुकता का वर्णन करते हुए कवि यह संकेत करना चाहता है कि भक्तों की आकुलता से स्वयं भगवान् भी व्याकुल हो उठते हैं। प्रस्तुत पद में व्रज भूमि के जीवन की भी सहज झलक प्रस्तुत की गई है।

अलंकार—(१) ग्वाल बाल⋯ ⋯बाही—पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) जबहि सुरति⋯⋯नाहीं—अनुप्रास।

(२३)

अपने स्वारथ के सब कोऊ।
चुप करि रहौ मधुप रस-लपट, तुम देखे अरु वोऊ॥
जो कछु कह्यौ कह्यौ चाहत हौ, कहि निरवारौ सोऊ।
अब मेरे मन ऐसियै षटपद, होनी होउ सु होऊ॥
तब कत रास रच्यौ वृन्दावन, जो पै ज्ञान हु तोऊ।
लीन्हें जोग फिरत जुवतिनि में, बड़े सुपत तुम दोऊ॥
छूटि गयौ मान परेखौ रे अलि, हृदै हुतौ वह जोऊ॥
सूरदास-प्रभु गोकुल बिसर्‌यौ, चित चिंतामनि खोऊ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद सूरदास कृत 'भ्रमर-गीत' से उद्धृत है। जिस समय उद्धव गोपियों को निर्गुण ब्रह्म ज्ञान तथा योग का उपदेश दे रहे थे, उस समय गोपियों को वह अच्छा नहीं लगा। एक गोपी रसलोभी भ्रमर को सम्बोधन करके उद्धव के तर्कों का प्रतिवाद करते हुए कहती है कि—

व्याख्या—संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ को ही देखता है। अरे रसलोभी भ्रमर ! अब उपदेश देना बन्द करके चुप हो जाओ; हमने तुम्हें और उसे, जो हमें छोड़कर मथुरा चले गए हैं, दोनों को भली प्रकार देख लिया है। अभी तक तुमने जो भी कहना चाहा उसे कह दिया है और भी जो कहना है, उसे रोक लो। अरे भ्रमर ! अब तो हमारे मन ने यह सोच लिया है कि जो कुछ होना है वह हो ही जाए। जिस निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान की तुम बात करते हो, यदि वह होता तो बताओ, वृन्दावन में हमारे साथ रास लीला कैसे और कौन

करता ? तुम प्रेमाकुल युवतियों को योग का उपदेश देते फिरते हो, तुम दोनों सुपात्रों को हमने देख लिया है, दोनों को ही यह ज्ञान नहीं है कि योग का उपदेश किसको देना चाहिए ? जिसके हृदय में उस लीला पुरुषोत्तम का निवास होता है, उसके सभी सांसारिक मान, अभिमान आदि छूट जाते हैं। सूरदास के प्रभु ने तो गोकुल को भुला दिया है, हमारे तो हृदय से चिन्तामणि खो गई है। इसलिए हमें अपने उपदेश मत सुनाओ।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में गोपियों की मनःस्थिति तथा रागानुगा भक्ति का सफल प्रतिपादन हुआ है। इसमें निर्गुण ज्ञान का प्रतिवाद करने के लिए वृन्दावन की रासलीला तथा हृदय में श्रीकृष्ण की छवि विद्यमान होने की स्थिति का संकेत करते हुए कवि ने भावात्मक शैली में उद्धव के तर्कों का खण्डन किया है।

अलंकार—(१) चुप करि·······तुम दोऊ—अन्योक्ति।

(२) जो कछु·······सोऊ—यमक।

(३) लीन्हें जोग·······दोऊ—वक्रोक्ति।

(२४)

ऊधौ हमहिं कहा समुझावहु।
पसु पंछी सुरभि ब्रज सब, देखि स्रवन सुनि आवहु॥
त्रिन न चरत गौ, पिवत न सुत पय, ढूँढ़त बन-बन डोलैं।
अति कोकिल दै आदि बिहंगम, भाँति भयानक बोलैं॥
जमुना भई स्याम स्यामहिं बिनु इंदु छीन छय रोगी।
तरुवर पत्र-बसन न सँभारत, बिरह वृच्छ भए जोगी॥
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यौं मीन।
सूरदास-प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस में लीन॥

प्रसंग—'भ्रमर-गीत' के प्रस्तुत पद में सूरदास ने श्रीकृष्ण के वियोग में सम्पूर्ण जड़-चेतन की व्यथा का चित्रण किया है। गोपियाँ उद्धव को ब्रज के पशु-पक्षियों की स्थिति बताते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं कि उसके रूप-सौन्दर्य को न देखकर जब पशु-पक्षी भी व्यथित हैं तो भला गोपियाँ कृष्ण छवि को अपने हृदय से कैसे दूर कर सकती हैं ?

व्याख्या—ऊधो ! हमें क्या समझाते हो, ब्रज भूमि के सभी पशु, पक्षी तथा गायों की दशा को अपनी आँखों से देख और कानों से सुन आओ तो कृष्ण

वियोग की मार्मिकता भलीभाँति समझ लोगे। कृष्ण के वियोग में गाय घास नहीं चरती, बछड़े दूध नहीं पीते, सभी श्रीकृष्ण की रूप छवि देखने के लिए वन में ढूँढ़ रहे हैं। कोयल आदि मधुर भाषी पक्षी अब भयानक बोलियाँ बोल रहे हैं। यमुना श्यामसुन्दर के वियोग में श्याम वर्ण की हो गयी है। चन्द्रमा क्षय रोगी के समान अत्यन्त क्षीण तथा मलिन हो गया है। वृक्षों ने अपने सुन्दर पत्तों को त्याग दिया है, कृष्ण के वियोग में वृक्ष भी योगी समान हो गया है। गोकुल के सभी लोग इस प्रकार दु:खी हैं जैसे जल के बिना मछली दु:खी होती है। यह सब होने पर भी किसी के प्राण नहीं छूटते; क्योंकि, सभी को एक ही आशा है कि अवधि बीतने पर श्याम अवश्य लौटेंगे।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में जड़-चेतन को कृष्ण वियोग में दु:खी दिखाते हुए कवि ने वियोग की व्यापकता के साथ अपने धार्मिक विश्वास की भी अभिव्यक्ति की है। पुष्टिमार्ग के अनुसार भगवान् से बिछुड़कर जीव तब तक दु:खी रहता है जब तक उसे पुष्टि प्राप्त न हो।

अलंकार—(१) पशु पंछी……छय रोगी—अतिशयोक्ति।

(२) जमुना भई……रोगी—यमक।

(३) तरुवर पत्र ……जोगी—रूपक।

(२५)

बिनु माधौ राधा तन सजनी, सब बिपरीत भई।
गई छपाइ छपाकर की छवि, रही कलंकमई॥
अलक जु हुती भुवंगम हु सो, वट लट मनहु भई।
तनु-तरु लाइ-वियोग लग्यो जनु, तनुता सकल हुई॥
अँखियाँ हुतीं कमल पँखरी सी, सुछवि निचोरि लई।
आँच लगैं ज्यौनो सोनो सौं, यौं तनु धातु घई॥
कदली दल सी पीठि मनोहर, मानो उकटि ठई।
संपति सब हरि हरी सूर-प्रभु विपदा देह दई॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद सूरदास कृत 'भ्रमर-गीत' से उद्धृत है। इसमें कवि ने वियोगिनी राधा का मार्मिक चित्रण किया है। श्रीकृष्ण के चले जाने पर राधा का शरीर दिन प्रति दिन शोभाहीन होता जाता है। उसे विधाता ने जो सौन्दर्य धन दिया था वह सभी छिन गया है। इस स्थिति को एक गोपिका के मुख से कवि ने कहलवाया है।

रस, अलंकार, पिंगल

प्रश्न १—रस की परिभाषा करते हुए उसकी सामग्री का विवेचन कीजिए।

काव्य को पढ़ने के लिए अनेक प्रयोजन बताये जाते हैं, किन्तु उनमें मुख्य प्रयोजन है—आनन्द की प्राप्ति। काव्य को पढ़ने से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे ही 'रस' कहते हैं। यह आनन्द (रस) ऐसा होता है, जिसका वर्णन शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता। इस आनन्द की अनुभूति होने पर सहृदय व्यक्ति को अपने शरीर तक की सुध-बुध नहीं रह जाती।

'रस' के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि काव्य में तो अनेक प्रकार की भावनाएँ व्यक्त की जाती हैं; उनमें शोक का भी वर्णन होता है, क्रोध का भी और भय का भी; किन्तु रस-रूप में अनुभूत होने पर ये सब भाव आनन्ददायक ही होते हैं अर्थात् रस सदा आनन्दस्वरूप ही होता है।

रस का लक्षण निर्धारित करने का प्रयत्न प्राचीनकाल से होता आ रहा है। फिर भी, आचार्य भरतमुनि की परिभाषा रस के सम्बन्ध में सर्वमान्य रही है। उन्होंने रस की परिभाषा देते हुए लिखा है—

'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

अर्थात् "विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के संयोग से अभिव्यक्त स्थायीभाव रस बनता है।" जब स्थायीभाव आलम्बन विभाव द्वारा जाग्रत, उद्दीपन विभाव द्वारा उद्दीप्त, अनुभाव द्वारा अभिव्यक्त और संचारी भाव द्वारा पुष्ट होकर परिपक्व अवस्था को प्राप्त होता है, तब उसे रस कहा जाता है।

रस-सामग्री—भरतमुनि ने 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—सूत्र में जहाँ रस-निष्पत्ति का संकेत दिया है वहाँ रस की सामग्री का भी स्पष्ट परिचय दे दिया है। अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारीभाव रस की सामग्री है। इन सब के संयोग से ही रस की निष्पत्ति बताई गई है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के अन्तर्गत रस-सामग्री में स्थायीभाव का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्थायीभाव

स्थायीभाव वे मनोभाव हैं जो सामाजिकों के हृदय में प्रत्येक समय वासना रूप में विद्यमान रहते हैं और अन्य भावों की सहायता से अनुकूल परिस्थितियों को पाकर रस-रूप में प्रकट होकर रस अवस्था के अन्त तक स्थायी रूप से बने रहते हैं। स्थायीभावों के नाम निम्न हैं—

(१) **रति**—स्त्री और पुरुष की पारस्परिक प्रेमात्मक प्रवृत्ति को रति कहते हैं। इसी प्रकार शृंगार रस की उद्भूति होती है।

(२) **हास**—अपनी जानकारी के प्रतिकूल वाणी, विचित्र वेशभूषा आदि को पाकर चित्त में जिस भाव का उद्रेक होता है, उसे हास कहते हैं। इससे हास्य रस की उत्पत्ति होती है।

(३) **शोक**—अपने इष्ट व प्रिय के नाश से चित्त में जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसे शोक कहते हैं। इसी का विकास करुण रस में होता है।

(४) **क्रोध**—अपने विरोधियों के विषय में या अपनी इच्छा की प्रतिकूलता के कारण इसके विरोध में जो भाव जाग्रत होता है वह क्रोध कहलाता है। यह रौद्ररस का स्थायीभाव है।

(५) **उत्साह**—दूसरे के पराक्रम और दान आदि के स्मरण से उत्पन्न होने वाली उन्नतता को उत्साह कहते हैं। यह वीररस का स्थायीभाव है।

(६) **भय**—भयानक वस्तु आदि को देखकर उत्पन्न होने वाली घबराहट को भय कहते हैं। यह भायनक रस का स्थायीभाव है।

(७) **जुगुप्सा**—सड़ी-गली वस्तु आदि को देखने से उत्पन्न होने वाली घृणा को जुगुप्सा कहते हैं। यह 'वीभत्स रस' का स्थायीभाव है।

(८) **विस्मय**—अलौकिकता का आभास कराने वाली वस्तु के दर्शनादि से उत्पन्न चित्त के विकार को 'विस्मय' कहते हैं। इसी 'विस्मय' का विकास अद्भुत रस के रूप में होता है।

(९) **निर्वेद**—वेदान्त शास्त्र के अध्ययन से अथवा संसार की अनित्यता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले भाव को वैराग्य, राग या निर्वेद कहते हैं। यह शान्त-रस का स्थायीभाव है।

(१०) **वात्सल्य**—सन्तति के प्रति माता-पिता आदि के प्रेम को वात्सल्य कहते हैं। यह वात्सल्य रस का स्थायी भाव है।

विभाव

वे कारण जो रति आदि स्थायीभावों को जगाकर उद्दीप्त करते हैं, विभाव कहलाते है। इसके दो अंग हैं—

(१) **आलम्बन विभाव**—जिसके हृदय मे भाव उत्पन्न एवं संचरित होता है, वह आश्रय कहलाता है और आश्रय में जिसके प्रति भाव प्रवृत्त होता है, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं।

(२) **उद्दीपन विभाव**—जो आलम्बन द्वारा प्रकटित भावों को उद्दीप्त करे, उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं।

अनुभाव

आलम्बन के द्वारा उद्बुद्ध और उद्दीपन के द्वारा उद्दीप्त स्थायीभाव के आश्रय में जो चेष्टाएँ होती हैं, उन्हें अनुभाव कहते है। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं—

(१) **कायिक**—कृत्रिम शरीर की चेष्टाओं से उत्पन्न अनुभाव कायिक होते हैं।

(२) **मानसिक**—अन्तःकरण की वृत्तियों से उत्पन्न हर्ष, आमोद आदि मानसिक भाव हैं।

(३) **आहर्य**—आरोपित या कृत्रिम वेष धारण करना आहार्य है।

(४) **सात्त्विक**—शरीर के अकृत्रिम अंग विकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं।

संचारीभाव

संचरणशील अर्थात् अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारीभाव कहते हैं। अर्थात् स्थायीभाव के साथ बीच-बीच में प्रकट होने वाले मनोभावों को संचारीभाव कहते हैं। यह स्थायीभावों के स्थिति-काल में केवल उन्हें पुष्ट करने में सहायता पहुँचाने के लिए उनके अनुकूल काम करने के लिए उत्पन्न होते है। ये काम करके तुरन्त ही स्थायीभाव में लुप्त हो जाते हैं। इनकी

संख्या तैंतीस मानी गई है, जो ये हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

प्रश्न २--निम्नलिखित रसों का परिचय दीजिए—

श्रृंगार-रस, करुण-रस, वीर-रस, हास्य-रस, वत्सल (वात्सल्य-रस), शान्त-रस, अद्भुत-रस।

श्रृंगार-रस

श्रृंगार शब्द 'श्रृंग' तथा 'आर' शब्दों के योग से बना है। 'श्रृंग' का अर्थ है—कामोद्रेक तथा 'आर' का अर्थ है—गति अथवा प्राप्ति; अर्थात् नायक तथा नायिका को रति की ओर ले जाने वाला श्रृंगार होता है।

श्रृंगार रस का स्थायीभाव रति है। आचार्य भरतमुनि ने इसे उज्ज्वल वेश वाला, पवित्र और दर्शनीय बताया है। केवल उत्तम प्रकृति के युवक और युवती ही श्रृंगार रस के वर्ण्य-विषय हो सकते हैं। इसके देवता विष्णु हैं।

श्रृंगार रस के दो भेद होते हैं—संयोग और वियोग। संयोग श्रृंगार में नायक-नायिका के प्रेम-पूर्ण व्यापारों—दर्शन, मिलन, वार्तालाप आदि का उल्लेख होता है। वियोग श्रृंगार में नायक-नायिका से अलग रहने के कारण उनकी विरह मे उत्पन्न दशा का वर्णन होता है। वियोग श्रृंगार के मुख्य रूप से चार भेद होते है—

(१) **पूर्वानुराग**—गुण-श्रवण, चित्र दर्शन अथवा स्वप्न दर्शन में नायक अथवा नायिका अपने प्रेमी का परिचय पा लेती है और उससे मिलने के लिए व्याकुल हो जाती है, इसे, पूर्वानुराग वियोग श्रृंगार कहते हैं। जायसी ने भी 'पद्मावत' में पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन हीरामन तोते के मुख से कहलवाया है जिसे केवल सुनने मात्र से राजा रत्नसेन के हृदय में रति नाम का स्थायी भाव पैदा हो जाता है और वह उसे पाने के लिए अनेक कष्टों को सहता हुआ सिंहलद्वीप जा पहुँचता है।

(२) **मान**—नायक से अपना सम्मान कराने के लिए नायिका अथवा नायक से सम्मान कराने के लिये नायक जब किसी बात पर रूठ जाता है तो उसे मान कहते हैं।

(३) **प्रवास**—नायक और नायिका के संयोग होने के पश्चात् जब उन

दोनों में से कोई एक विदेश चला जाए या किसी सामाजिक भय से मिल न सके वहाँ प्रवास होता है; जैसे—सीता-हरण के पश्चात् राम की दशा प्रवास दशा थी।

(४) करुण—करुण विप्रलम्भ वहाँ होता है जहाँ नायक अथवा नायिका को अपने प्रिय की अनिष्ट की सम्भावना हो अथवा उसे यह विश्वास हो जाए कि मेरा प्रिय अब लौटकर नहीं आएगा।

वियोग शृंगार के भेद पूर्वानुराग दस काम-दशाएँ भी मानी गयी हैं; यथा—अभिलाषा, चिन्ता, अनुस्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण। कुछ विद्वानों ने मरण को अप्रदर्शनीय मानकर उसके स्थान पर मूर्च्छा को रखना ही उचित समझा है।

शृंगार-रस के स्थायीभाव आदि—

स्थायीभाव—रति

आश्रय—नायिका या नायक।

आलम्बन विभाव—नायक या नायिका।

नायक आश्रय होगा तो नायिका आलम्बन होगी और नायिका आश्रय होगी तो नायक आलम्बन होगा।

उद्दीपन विभाव—नायिकाओं के भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति आदि अट्ठाइस सात्त्विक अलंकार, आलम्बन की वेशभूषा, उसकी विविध चेष्टाएँ (आलम्बन से वहिर्गत) चाँदनी रात, नदीतट, वसन्तऋतु, आलम्बन का चित्र, पत्र, एकान्त स्थान उपवन आदि)। वियोग दशा में सूनी सेज आदि भी उद्दीपन होते हैं।

अनुभाव—(आश्रय की चेष्टाएं) एक-दूसरे को सतृष्ण दृष्टि से देखना, छेड़-छाड़, हास्य-विनोद, मिलन चेष्टाएँ, विरह-चेष्टाएँ आदि।

संचारी भाव—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य सब। संयोग शृंगार का उदाहरण—

> "दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माही।
> गावत गीत सबै मिल सुन्दरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाही।
> राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग की परछाहीं।
> याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि, रहीं पल टारत नाहीं॥

यहाँ स्थायीभाव रति, है, आश्रय सीता तथा आलम्बन राम हैं। कंकन के

नग में रामचन्द्रजी का रूप निहारना उद्दीपन है; हाथ का न हिलाना **अनुभाव** और जड़ता **संचारीभाव** है।

वियोग शृंगार का उदाहरण—

"शीत स्थान महान कण्व मुनि के पुण्याश्रमोद्यान में,
बाह्य ज्ञान विहीन लीन अति ही दुष्यन्त के ध्यान में।
बैठी मौन शकुन्तला सहज थी सौन्दर्य से मोहनी,
मानो होकर चित्र में लचित-सी थी चित्त को मोहती॥"

प्रस्तुत छन्द में शकुन्तला **आश्रय** है और दुष्यन्त **आलम्बन**। कण्व का शान्त और पवित्र आश्रम **उद्दीपन विभाव** है। शकुन्तला का मौन होकर चित्र-खचित-सी बैठना स्तम्भ **सात्विक अनुभाव** है। उसका बाह्य ज्ञान-विहीन होना लीन होना, जड़ता **सचारी** है। अतः यहाँ विभाव, अनुभाव और संचारी से युक्त 'रति' स्थायीभाव की व्यंजना हुई है।

करुण-रस

अपने इष्ट के नाश अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली व्याकुल भावनाओं के वर्णन में करुण-रस होता है अर्थात् जब विभावों, अनुभावों तथा संचारी भावों से शोक स्थायीभाव पुष्ट हो जाता है तो करुण-रस में परिणत हो जाता है; जैसे—

"हाहाकार घर में हुआ नया,
निशि का अटूट वह मौनव्रत टूट गया।
किन्तु यह सारा हाल,
जानकी न जान सकी, बेखबर सोती हुई।
जागी जब प्रातःकाल
हेतु कुछ जाने बिना, शंकित सी होती हुई,
माँ-माँ कर रो उठी तुरन्त वह।"

प्रस्तुत पंक्तियों में माँ की मृत्यु पर जानकी के शोक का वर्णन है। इसमें **स्थायीभाव**—शोक, आलम्बन विभाव—मृत माता; उद्दीपन विभाव—घर में विद्यमान सन्नाटा आदि; अनुभाव—जानकी का माँ-माँ कहकर पुकारना; और **संचारीभाव**—शंका, आवेग आदि है।

वीर-रस

विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के संयोग से अभिव्यक्त उत्साह

स्थायीभाव वीर-रस कहलाता है। इसके चार भेद माने जाते हैं—युद्धवीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर; जैसे—

"करता हुआ वध वैरियों का वैर शोधन के लिए।
रण मध्य वह फिरने लगा अति दिव्य द्युति धारण किए।
इस काल जिस-जिस ओर वह संग्राम करने को गया।
भागते हुए अरिवृन्द से मैदान खाली हो गया॥"

प्रस्तुत पद्य में अभिमन्यु द्वारा चक्रव्यूह तोड़ने के अवसर का वर्णन है। अभिमन्यु उत्साहपूर्वक शत्रुओं का दमन करता हुआ युद्ध में बढ़ रहा है। इस प्रकार वह युद्ध वीर-रस का उदाहरण है। इसमें स्थायीभाव—उत्साह; आलम्बन **विभाव**—शत्रु; **उद्दीपन विभाव**—शत्रुओं का सामने आना; अनुभाव—शत्रुओं का वध करना आदि; और **संचारीभाव**—हर्ष, धैर्य आदि हैं।

हास्य-रस

किसी व्यक्ति या वस्तु की साधारण से अनोखी आकृति, किसी की अनोखे ढंग की वेश-भूषा तथा बात-चीत, विचित्र प्रकार की चेष्टाएँ, अनोखे अलंकार आदि असंगतिपूर्ण वस्तुओं व क्रियाओं को देखकर हृदय में जो विनोद का भाव उत्पन्न होता है, वही 'हास' कहलाता है। यह 'हास' स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट होकर 'हास्य-रस' कहा जाता है। उदाहरण—

"हँसि हँसि भाजैं दूलह दिगम्बर को,
पाहुनी जै आवैं हिमाचल के उछाह में।
कहैं 'पद्माकर' जू काहू सों कहै को कहा,
कोई जहाँ देखैं सो हँसेई तहाँ राह में।
मगन भएइ हँसे नगन महेश ठाढ़े,
और हँसे, एक हँसि-हँसि के उछाह में।
सीस पर गंगा हँसै, भुजनि भुजग हँसै,
हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में।"

यहाँ पर महादेव को नग्न देखकर लोगों का हँसना, 'हास' स्थायीभाव है। महादेव आलम्बन विभाव है। उनका नंगा रूप, विभिन्न स्वरूप आदि उद्दीपन विभाव हैं। लोगों का हँस-हँस कर भागना, लोट-पोट हो जाना आदि अनुभाव हैं। लोगों के महादेवजी के स्वरूप में देखने के लिए दौड़ पड़ने

में चपलता, उत्सुकता आदि संचारी भाव हैं। अतः यहाँ हास्य रस की सुन्दर सृष्टि हुई है।

वत्सल (वात्सल्य) रस

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त वात्सल्य स्थायीभाव वत्सल रस कहलाता है। उदाहरण—

"मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन सी फूल उठी वह छोटी-सी कुटिया मेरी॥
'माँ ओ' कहकर बुला रही थी, मिट्टी खाकर आयी थी।
कुछ मुँह में कुछ लिए गोद में मुझे खिलाने आयी थी॥"

प्रस्तुत पंक्तियों में अपनी पुत्री के प्रति माता के स्नेह भाव का चित्रण किया गया है। इस प्रकार यह वात्सल्य रस का उदाहरण है। इसमें वात्सल्य स्थायीभाव है। आलम्बन विभाव—पुत्री। उद्दीपन विभाव—पुत्री का 'माँ ओ' कह कर बुलाना आदि। अनुभाव—पुत्री को प्यार करना, संचारीभाव—हर्ष, उत्सुकता आदि।

शान्त रस

विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के संयोग से अभिव्यक्त निर्वेद स्थायी भाव शान्त रस कहलाता है। उदाहरण—

"भाग रहा हूँ भार देख,
तू मेरी ओर निहार देख,
मैं त्याग चला निस्सार देख,
अटकेगा मेरा कौन काम।
ओ क्षणभंगुर भव राम-राम॥"

प्रस्तुत पंक्तियों में उस समय का वर्णन है, जब सिद्धार्थ संसार के दुःखों का अनुभव कर उसे असार जान गृह-त्याग करते हैं। यहाँ सिद्धार्थ के मन का वैराग्य भाव वर्णित है। इसमें स्थायीभाव—निर्वेद; आलम्बन विभाव—असार रूप में ज्ञात संसार; उद्दीपन विभाव—संसार की असारता का ध्यान, अनुभाव—गृह त्याग। संचारीभाव—धैर्य आदि।

अद्भुत रस

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त विस्मय स्थायीभाव अद्भुत रस कहलाता है। उदाहरण—

"अचल भुवन चर अचर सब, हरिमुख में लखि मातु।
चकित भई गद्‌गद् वचन, विकसित दृग पुलकातु॥"

स्थायीभाव—विस्मय; **आलम्बन विभाव**—कृष्ण; **उद्दीपन विभाव**—में तीन लोक दिखाई देना; **अनुभाव**--गद्‌गद् वचन और रोमांच; **संचारीभाव**—भय, शंका आदि।

प्रश्न ३—अलंकार की परिभाषा करते हुए काव्य में उसकी उपयोगिता बताइए।

'अलंकार' शब्द में दो शब्द हैं—'अलम्' और 'कार'। 'अलम्' का अर्थ है—'भूषण' और 'कार' अर्थात् करने वाला। इसका अर्थ यह हुआ कि जो अलंकृत या भूषित करे, वह अलंकार है। आचार्य वामन ने कहा भी है—अलङ्कृतिः अलंकारः।' आचार्य दण्डी के शब्दों में—

"काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते॥"

अर्थात् अलङ्कार काव्य के शोभावर्द्धक धर्म हैं। "जिस प्रकार हारादि अलङ्कार रमणी के नैसर्गिक सौन्दर्य की शोभावृद्धि के उपकारक होते हैं, उसी प्रकार उपमा आदि अलङ्कार काव्य की रसात्मकता के उत्कर्षक हैं। वास्तव में अलङ्कार वाणी के विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है। स्पष्टता और प्रभावोत्पादन के हेतु वाणी अलङ्कार का रूप धारण करती है। इसलिए काव्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।"

आचार्यों ने अलङ्कार की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं की हैं। कुछ प्रसिद्ध अलङ्कारवादियों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) यूनानी काव्यशास्त्र—"अलङ्कार उन विधाओं का नाम है जिनके प्रयोग द्वारा श्रोताओं के मन में वक्ता अपनी इच्छा के अनुकूल भावना जगा कर उनको अपना समर्थक बना सकता है।"

(ख) भामह—इन्होंने 'वक्रोक्ति' को सारे अलङ्कारों में व्याप्त मानते हुए इसे अलङ्कारों का एकमात्र आश्रय माना है। वस्तुतः इन्होंने 'वक्रोक्ति' को एक सीमित अलङ्कार के अर्थ में स्वीकार न करके उसका व्यापक रूप में अलङ्कारों की प्राणभूत अतिशय उक्ति के रूप में प्रयोग किया है।

(ग) रुद्रट—कवि-प्रतिभा से उद्‌भूत कथन-विशेष ही अलङ्कार है। "अभि-

धान प्रकार विशेष एवं चालंकारा:।" आगे चलकर आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी इस कथन की पुष्टि की है।

(च) **कुन्तक**—विदग्धों के कहने के ढंग ही वक्रोक्ति हैं और वे ही अलंकार है।

(ङ) **मम्मट**—मम्मट के विचार मे काव्य का मुख्य धर्म तो 'रस' है, अलंकार तो हार आदि आभूषणो के समान हैं।

(च) **महर्षि व्यास**—'अर्थालंकार रहिता विधवेह सरस्वती।'—अर्थालंकार के बिना सरस्वती विधवा के ही समान है।

(छ) **जयदेव**—"अंगीकरोति य: काव्य शब्दार्थवनलङ्कृति।"
' असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृतौ।"

अर्थात् जो शब्दार्थ-युक्त काव्य को अलंकारो से रहित मानते हैं, वे क्यों नही अग्नि को ताप से रहित मान लेते।

आगे चलकर हिन्दी के आचार्यो ने भी मूल रूप में संस्कृत के आचार्यों का ही अनुसरण किया है। कुछ हिन्दी अलंकारवादियों की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

(क) **केशव**—"जदपि सुजाति, सुलच्छनी, सुबरन, सरस, सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजइ कविता, वनिता, मित्त।"

(ख) **देव**—"अलंकार पहिरे अधिक, अद्‌भुत रूप लखाति।"

(ग) **भिखारीदास**—"भूपन है भूपन सकल।"

यूनानी, संस्कृत तथा हिन्दी के अलंकारवादियों की उपर्युक्त परिभाषाओं को पढ़ने से 'अलंकार' के सम्बन्ध में आचार्यो के दो वर्ग दृष्टिगत होते हैं—एक, वह जो अलंकारों को काव्य का शोभन-धर्म अर्थात् सौन्दर्य मानता है और दूसरा वर्ग वह जो अलंकारों को कविता-कामिनी का आभूषण मानता है। सौंदर्य आभ्यंतर है जबकि आभूषण कृत्रिम अथवा बाह्य-सज्जा है। केशव आदि आचार्य ही अलंकारों को कविता रूपी कामिनी का आभूषण मानते हैं। किंतु हमारे विचार से यह युक्तिसंगत नही है; क्योंकि, कामिनी के शरीर पर से यदि आभूषण उतार भी दिये जाएं तो भी उसकी श्रीवृद्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अतः अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की जानी चाहिए—"कविता का अलंकारों के साथ वही सम्बन्ध है जो कामिनी और उसके सौन्दर्य

में पाया जाता है।" अर्थात् शब्द और अर्थ में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाली वर्णन-शैली को अलंकार कहते हैं।

अलंकारों की उपयोगिता—अर्थ-सौन्दर्य से रहित काव्य को काव्य नहीं कहा जा सकता और अर्थ की सुन्दरता के सम्पादन के साधनों में एक साधन अलंकार है। अतः काव्य के आत्मभूत अर्थ के सौन्दर्य का साधन होने से काव्य में अलंकारों का बहुत महत्व है। साधारण शब्द और अर्थ तो सभी रचनाओं में मिल जाते हैं, पर उन्हें हम काव्य कदापि नहीं कहते। अर्थ में सौन्दर्य होने पर ही वह काव्य कहलाता है। जितने भी उच्चकोटि के काव्य है, उनमें दोनों प्रकार का सौन्दर्य होता है—व्यंजना का भी और अलंकार का भी।

साधारण उक्ति की अपेक्षा अलंकार-युक्त उक्ति में अधिक सौन्दर्य या चमत्कार होता है। इसके साथ ही, अलंकारों के द्वारा भाव भी अधिक स्पष्ट होता है। उदाहरणार्थ—जब हमें मुख की सुन्दरता का बोध करना हो, तो 'मुख सुन्दर है' इस साधारण से कथन से सुन्दरता का भाव स्पष्ट नहीं होता किन्तु जब इसी भाव को—'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' इस रूप में प्रकट करें, तो उसमें अधिक स्पष्टता तथा सौन्दर्य आ जाता है। चन्द्र से मुख की तुलना करने पर प्रभाव डालने की क्षमता और भी अधिक हो जाती है। साधारण उक्ति की अपेक्षा अलंकृत उक्ति का प्रबल प्रभाव होता है। पूर्व वाक्य में भाव की स्पष्टता और सौन्दर्य के साथ ही प्रभाव की शक्ति भी बढ़ी है।

शिक्षित लोग ही नहीं, साधारण लोग भी अपने भाव को सुन्दर, स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए अपनी-अपनी उक्ति को अलंकारों से सजाते हैं। किसी दुष्ट की क्रूरता को व्यक्त करने के लिए साधारण लोग भी कहते हैं—'वह तो काला नाग है।' किसी के घर में फूट पड़ने पर कहते हैं—'इस घर में तो आग लग गई है।' इन वाक्यों में अलंकार का मूल तत्व निहित है। अतः सिद्ध हुआ कि काव्य में सौन्दर्य-वृद्धि और प्रभावोत्पादन शक्ति के साधन होने से अलंकार विशेष उपयोगी है। यहाँ एक बात का ध्यान अवश्य रहे कि काव्य में यदि अलंकार जान-बूझकर ठूँसे जाएँगे तो वह काव्य के स्वाभाविक सौन्दर्य को नष्ट कर देंगे। अलंकार का प्रयोग काव्य में सदैव अकृत्रिम रूप से ही होना चाहिए।

प्रश्न ४—अधोलिखित अलंकारों का सोदाहरण परिचय दीजिए—

यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, भ्रान्ति, सन्देह असंगति, अनुप्रास, विशेषोक्ति, विभावना, दृष्टान्त ।

यमक—जहाँ एक शब्द या शब्द-समूहों की आवृत्ति हो, परन्तु उसका अर्थ अलग-अलग निकलता हो, वहाँ यमक अलंकार होता है; जैसे—

"कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय ।"

प्रस्तुत पद्यांश में 'कनक' शब्द की आवृत्ति हुई है पहला 'कनक' शब्द धतूरे के लिए तथा दूसरा सोने के लिए प्रयुक्त हुआ है । अतः यहाँ यमक है ।

श्लेष—जहाँ एक शब्द से अभिधा शक्ति के द्वारा अनेक अर्थों की प्रतीति होती है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है; जैसे—

"रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून ।
पानी गये न ऊबरे, मोती मानुष चून ।"

प्रस्तुत दोहे में 'पानी' शब्द मोती मानुष और चून के साथ क्रमशः चमक सम्मान और जल—तीन भिन्न-भिन्न अर्थ दे रहा है, अतः यहाँ श्लेष अलंकार है ।

वक्रोक्ति—जहाँ वक्ता किसी और अभिप्राय से शब्द का प्रयोग करे, परन्तु श्रोता उसका और ही अर्थ कल्पित कर ले; वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है । इसके दो भेद होते है—श्लेष-वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति । **श्लेष-वक्रोक्ति** का उदाहरण है—

"को तुम हैं ? घनस्याम हम, तो बरसो कित जाय ?
नहिं मनमोहन हैं प्रिये ! फिर क्यों पकरत पाँय ।।"

राधिका कृष्ण से पूछती है, "तुम कौन हो ?" कृष्णजी अपना नाम 'घनश्याम' बताते हैं । राधिका श्लेष के द्वारा 'घनश्याम' शब्द का कृष्णजी के अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ (बादल) लेकर उत्तर देती है—'तो कहीं और जाकर बरसो ।' राधिका की अन्यार्थ कल्पना श्लेष का ही फल है । अतः यहाँ श्लेष वक्रोक्ति अलंकार है ।

उपमा—जहाँ उपमेय तथा उपमान की शोभा समान रूप से वर्णित की जाए, उसे उपमा अलंकार कहते है । उपमा के चार अंग होते हैं—

(क) **उपमेय**—जिसकी उपमा की जा रही हो ।

(ख) **उपमान**—जिससे उपमा दी जा रही हो ।

(ग) **साधारण धर्म**—उपमेय-उपमान दोनों में समानता सूचक गुण ।

(घ) वाचक शब्द—उपमा को प्रकट करने वाला शब्द; जैसे—सा, से, समान, सी आदि। उदाहरण—

"पीपर पात सरिस मन डोला।"

पीपल के पत्ते के समान मन डोल गया। इससे 'मन' उपमेय हुआ; क्योंकि इसकी उपमा की जा रही है। 'पीपर पात' उपमान हुआ; क्योंकि, इससे उपमेय (मन) की उपमा दी जा रही है। 'डोला' साधारण धर्म है और 'सरिस' वाचक शब्द हुआ। अतः यहाँ 'उपमा' अलंकार हुआ।

रूपक—जहाँ अत्यन्त सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान का अभेद आरोपित किया जाता है, वहाँ रूपक अलंकार होता है; जैसे—

"चरण-कमल बन्दौ हरिराई।"

यहाँ सादृश्य के कारण उपमेय (चरण) में उपमान (कमल) का आरोप कल्पित है। वास्तव में 'चरण' कमल नहीं बन सकता, परन्तु सादृश्य के कारण यहाँ चरण को कमल मान लिया गया है। अतः रूपक अलंकार है।

उत्प्रेक्षा—प्रस्तुत वस्तु (उपमेय) में अप्रस्तुत वस्तु (उपमान) की सम्भावना को उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं; जैसे—

"कहती हुई यों उत्तरा के नेत्र जल से भर गये।
हिम के कणों से पूर्ण मानो हो गये पंकज नये।"

प्रस्तुत पद्यांश में प्रस्तुत वस्तु आँसुओं से भरे हुए उत्तरा के नेत्रों में अप्रस्तुत वस्तु हिम-कण से भरे हुए पंकजों की सम्भावना की गई है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा है।

इसके तीन भेद हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा।

प्रतीप—जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के रूप में कल्पित किया जाये, वहाँ प्रतीप अलंकार होता है; जैसे—

"कौन जाने, जायगा यों ही दिन दूसरा,
अयि, तुझ सी यह संध्या धूलि-धूसरा॥"

यहाँ संध्या को उपमेय रूप में कल्पित किया गया है।

व्यतिरेक—व्यतिरेक का अर्थ है—उत्कर्ष अथवा आधिक्य। जब उपमेय में उपमान से कुछ उत्कर्ष बताया जाये अथवा उपमान में उपमेय से कुछ हीनता बताई जाये, तो वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है; जैसे—

"साधु ऊँचे शैल सम, किन्तु प्रकृति सुकुमार।"

साधु (उपमेय) को शैल (उपमान) के समान ऊँचा बताकर, फिर उपमेय में यह उत्कृष्टता बता दी गई है कि वह प्रकृति से सुकुमार होते हैं, जबकि पर्वत कठोर होते हैं। अतः व्यतिरेक अलंकार है।

भ्रान्तिमान (भ्रम)—कभी-कभी किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु से कुछ सादृश्य होता है। इससे उसे अन्य वस्तु समझ लिया जाता है। इसी प्रकार, जब उपमेय में उपमान का आभास हो अर्थात् उपमेय उपमान जान पड़ने लगे तब भ्रम या भ्रान्तिमान अलंकार होता है, यथा—

"बिल विचार कर नाग शुण्ड में घुसने लगा विषैला साँप'
काली ईख समझ विषधर को उठा लिया गज ने झट आप।"

इस वर्णन के अनुसार हाथी की सूँड़ के छिद्र में सर्प को बिल का भ्रम हुआ और हाथी को साँप में काली ईख का। दोनों का यह भ्रम निश्चय की सीमा तक पहुँच गया। अतः यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार है।

सन्देह—जब उपमेय और उपमान में समता देखकर यह निश्चय नहीं हो पाता कि उपमान वास्तव में उपमेय है या नहीं, दुविधा बनी ही रहती है, तब सन्देह अलंकार होता है; यथा—

"सारी बिच नारी है, कि नारी बिच सारी है,
कि सारी ही की नारी है, कि नारी ही की सारी है?"

द्रौपदी की साड़ी खींचते-खींचते जब दुःशासन ने उसका बहुत बड़ा ढेर लगा लिया। तब दर्शकों को सन्देह हुआ कि साड़ी के बीच में नारी है या नारी के बीच मे साड़ी है। साड़ी की नारी है या नारी की साड़ी है। अतः यहाँ सन्देह अलङ्कार है।

असंगति—जब कारण कहीं और हो उसका कार्य कहीं अन्यत्र हो और इस प्रकार दोनों की संगति में विरोध जान पड़े, तब असंगति अलंकार होता है; यथा—

"कृष्ण मथुरा के कारागार में तो पैदा हुए,
आनन्द मनाया गया किन्तु नन्द-धाम में।"

यहाँ कृष्ण की उत्पत्ति से आनन्द के मनाए जाने का कारण तो हुआ मथुरा में और आनन्द मनाया गया—उस कारण का कार्य हुआ—नन्द के घर गोकुल

में। कारण और कार्य में इतनी दूरी का व्यवधान पड़ा। अतः यहाँ असगति अलकार है।

अनुप्रास—जहाँ वर्णों की समानता हो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। जैसे—

"पर ओ छंद छंद के छलिया, जो तुम बँद बँद के बूंदी।
सौ सौ सौगन्धों के साथी, मैंने तुमको नहीं पुकारा॥"

यहाँ 'छ', 'ब' और 'स' वर्ण की आवृत्ति अनेक बार हुई है।

अनुप्रास के पाँच भेद माने गए है—छेकानुप्रास, भृत्यानुप्रास, श्रुत्यानुप्रास, लाटानुप्रास और अन्त्यानुप्रास।

विशेषोक्ति—जहाँ कारण होते हुए भी कार्य का न होना वर्णित हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। जैसे—

'देखो दो दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी।'

जल से प्यास बुझ जाती है, किन्तु यहाँ निरन्तर अश्रु प्रवाहित होने पर भी प्यास-वेदना नहीं बुझती।

विभावना—जहाँ कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो, वहाँ विभावना अलंकार होता है। जैसे—

'बिनु पद चले, सुनै बिनु काना।'

यहाँ बिना पैरों के चलना और बिना कानों से सुनने के कार्य में कारण के अभाव में विभावना अलंकार है।

दृष्टान्त—जहाँ कही हुई बात के निश्चय के लिए दृष्टान्त देकर पुष्टि की जाती है, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। जैसे

"सुख दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि।
फिर शशि से ओझल हो घन।"

यहाँ ऊपर पहली दो पंक्तियों में सुख-दुःख के मधुर मिलन से जीवन के परिपूर्ण होने की बात कही गई है तथा अन्तिम दो पंक्तियों में घन में शशि के ओझल हो जाने के दृष्टान्त से तथा शशि से घन के ओझल हो जाने के दृष्टान्त से उसका निश्चय कराया गया है।

प्रश्न ५—छंद की परिभाषा करते हुए उसके अंगों का परिचय दीजिए।

'छन्द' शब्द 'छद्' धातु से बना है जिसका शब्दार्थ—आच्छादन करना अथवा ढकना। ऐसा कहा जाता है कि प्राचीनकाल मे मृत्यु के भय से कुछ देवताओं ने गायत्री आदि मन्त्रों से अपने आपको ढक रखा था। इसी से मन्त्र 'छन्द' कहलाने लगे। छन्द एक प्रकार से 'पद्य' शब्द का पर्याय है; क्योंकि 'पद्य' बिना छन्द का आधार लिए नहीं लिखा जा सकता। यदि सरल शब्दों में, छन्द की परिभाषा की जाए तो हम कहेंगे, **"जिस वाक्य-समूह में व्याकरण के नियमों की यथाशक्ति रक्षा करते हुए मात्रा, वर्ण या दोनों का निश्चित क्रम माप या संख्या हो और यति, गति और चरणों की निश्चित व्यवस्था हो, वह छन्द है।"** छन्द की विशेषताओं के सम्बन्ध में एक कवि ने कहा है—

"जैसे वेद विहीन द्विज, हीन लोक से होय।
त्यों ही छन्दोज्ञान बिन कहैं सर्व कवि लोय॥"

वस्तुतः उपर्युक्त दोहे से छन्द की सूक्ति रूप में विशेषता दर्शित हो जाती है।

(१) छन्द संगीत का मुख्य अंग है और संगीत हर प्राणी को प्रिय है अतः छन्द के जाने बिना संगीत का ज्ञान भी अधूरा है।

(२) कविता मे पदावली अत्यन्त कोमल एवं कानों को अच्छी लगने वाली होती है। यह छन्द की ही देन है।

(३) छन्द का आधार ग्रहण करने पर कविता में थोड़े से थोड़े अक्षरों में अधिक से अधिक भावों को नियमपूर्वक रखना पड़ता है जिसका मधुर परिणाम यह होता है कि हमें प्रत्येक शब्द का वास्तविक मूल्य ज्ञात हो जाता है और थोड़े में अधिक कहने की क्षमता पैदा हो जाती है।

(४) छन्द का आधार ग्रहण करने से बड़े-बड़े विचारों की माला थोड़े से शब्दों में ही कंठस्थ की जा सकती है एवं नीरस से नीरस विषय को छन्द की सहायता से मधुर एवं शीघ्र-बोधक बनाया जा सकता है।

छन्द के भेदोपभेद

हिन्दी में मुख्यतः छन्दों के दो भेद प्रचलित हैं—

(क) वर्णिक छन्द—जिसमे वर्णों की संख्या निश्चित होती है। वर्णिक छन्दों को वृत्त भी कहते हैं।

मात्रिक छन्द—जिसमें मात्राओं की संख्या निश्चित होती है।

वर्णित और मात्रिक छन्दों को भी आचार्यों ने तीन-तीन भेदों में विभक्त किया है—सम, अर्द्धसम और विषम।

सम—जिन छन्दों के चारों चरणों में समान लक्षण घटित होते हैं।

अर्द्धसम—जिन छन्दों के विषम चरणों (पहले और तीसरे) में तथा सम चरणों (दूसरे और चौथे) में समान लक्षण घटित होते हैं।

विषम—सम और अर्द्धसम के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का छन्द विषम कहलाता है।

सम छन्द के दो भेद होते हैं—(१) साधारण, और (२) दण्डक।

वर्णिक छन्दों में २६ वर्णों तक के तथा मात्रिक छन्दों में ३२ मात्राओं तक के छन्द 'साधारण' और उनके आगे 'दण्डक' कहलाते हैं।

वर्तमान युग में उक्त दोनों प्रकार के छन्दों के अतिरिक्त कुछ और भी प्रकार के छन्दों का भी प्रचलन हो रहा है, जिसमें न वर्णों की संख्या निश्चित होती है और न मात्राओं की ही। उनका आधार केवल स्वर अर्थात् संगीत पर ही निर्भर रहता है। इस छन्द को 'लयछन्द' या 'स्वछन्द छन्द' कहते हैं। वर्तमान युग के प्रायः सभी कवि इसी छन्द का प्रयोग कर रहे हैं।

वर्ण

छन्द-शास्त्र में स्वर तथा स्वरयुक्त व्यंजन को ही वर्ण कहते हैं; जैसे—'राम' में दो वर्ण हैं, क्योंकि स्वर—'र+आ, म्+अ'—दो ही हैं। इसी प्रकार 'अक्षर' तीन वर्ण होंगे।

मात्रा

मात्रा का तात्पर्य है (एक वर्ण के) उच्चारण-काल का परिणाम। अतः एक वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। मात्रा की दृष्टि से वर्ण दो प्रकार के होते हैं—

(१) जिनके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है। ये चार हैं—अ, इ, उ, और ऋ। उन्हें छन्दशास्त्र में लघु वर्ण कहते हैं। लघु का चिन्ह '।' है।

(२) जिनके उच्चारण में लघु अक्षरों से दुगुना समय लगता है। ये चार हैं—आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ। ये सब द्वि-मात्रिक वर्ण हैं। इन्हें छन्दशास्त्र में 'गुरु' वर्ण कहते हैं। गुरु का चिन्ह 'ऽ' है।

यति

विराम को यति कहते हैं। छन्दशास्त्र में कवि शब्द-योजना का निर्माण

इस प्रकार से करता है कि पढते-पढ़ते नियमित स्थान पर थोड़ा-सा रुक-रुक कर आगे बढ़ना पड़ता है।

गति

प्रत्येक छन्द में एक प्रकार की गति अथवा प्रवाह होता है।

गण

गण शब्द का अर्थ है—समूह। छन्द-शास्त्र में शब्दों की परिभाषा आदि में सुविधा के लिए वर्णिक छन्दों में तीन वर्णों के समूह को तथा मात्रिक छन्दों में चार मात्राओं के समूह को गण माना गया है।

गण—ये आठ हैं। इनका पूर्ण परिचय निम्न तालिका से स्पष्ट है—

गण	स्वरूप	लक्षण	उदाहरण
मगण	S S S	सर्व गुरु	माताजी
नगण	I I I	सर्व लघु	जनक
भगण	S I I	आदि गुरु	कोमल
जगण	I S I	मध्य गुरु	कृपाल
सगण	I I S	अन्त गुरु	करुणा
यगण	I S S	आदि लघु	बनाना
रगण	S I S	मध्य लघु	योजना
तगण	S S I	अन्त लघु	आयात

गण के स्वरूप को समझने के लिए निम्नलिखित पंक्ति कण्ठस्थ कर लेनी चाहिए—

I S S S I S I I I S
य मा ता रा ज भा न स ल गा

इस पंक्ति में प्रत्येक गण का स्वरूप विद्यमान है। इस पंक्ति के ऊपर लघु गुरु लगा दीजिए। अब जिस गण का स्वरूप जानना हो, उसके ऊपर का चिन्ह साथ लेकर उससे आगे वाले दो वर्णों के ऊपर वाले चिन्ह ले लीजिये उस गण का स्वरूप बन जाएगा। कल्पना कीजिए कि हमें रगण का स्वरूप जानना है। 'र' के ऊपर 'S' है, उसके साथ उसके आगे 'ज' और 'भ' के ऊपर 'I S' चिन्ह हैं। इस प्रकार ये तीनों चिन्ह 'S I S' यह स्वरूप बनाते हैं। यही रगण है। इसी प्रकार किसी भी गण का स्वरूप सफलतापूर्वक

इस पंक्ति से बनाया जा सकता है। परन्तु पंक्ति को याद करते हुए अत्यन्त सावधानी से काम लेना चाहिए, ताकि उसमें लघु वर्ण गुरु न बन जाए और कोई गुरु वर्ण लघु न रह जाये; क्योंकि, ऐसा होने पर कई गुणों का स्वरूप अशुद्ध हो जाएगा।

प्रश्न ६—निम्नलिखित छन्दों का सोदाहरण परिचय दीजिये—

चौपाई, रोला, हरिगीतिका, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्र वज्र, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, मत्तगयंद, बरवै, कुण्डलिया, दोहा, सोरठा, कवित्त।

चौपाई—यह मात्रिक छन्द है। इसके लिए निम्नलिखित नियम हैं—

(१) अन्य छन्दों की भाँति इसके चार चरण होते हैं।

(२) प्रत्येक चरण में १६-१६ मात्राएँ होती हैं।

(३) मात्राओं के क्रम में ध्यान रखना चाहिए कि सम (२-४) मात्रा समूह के बाद सम मात्रा-समूह ही आना चाहिए और विषम (१-४) मात्रा-समूह के बाद विषम मात्रा-समूह हो।

(४) इसके अन्त में जगण (। S ।) और तगण (S S ।) नहीं आने चाहिए।

उदाहरण—

S S । । । । । । । । S S S । । । । । । । । । । S S

"वर्षा बिगत सरद ऋतु आई। देखहु लछिमन परम सुहाई।
फूले कास सकल महि छाई। जनु वर्षा कृत प्रकट बुढ़ाई॥"

इस उदाहरण के चारों चरणों में १६-१६ मात्राएँ हैं। मात्राओं का क्रम भी एक जैसा है और अन्त में जगण (। S ।), तगण (S S ।) भी नहीं हैं। अतः यहाँ चौपाई छन्द है।

रोला—रोला के प्रत्येक चरण में ११ और १३ विराम से २४ मात्राएँ होती हैं। कुछ लोग इसके अन्त में दो गुरु (SS) वर्णों का होना आवश्यक मानते हैं। परन्तु ऐसा होना सर्वत्र अनिवार्य नहीं; जैसे—

S S S S । S । S S S । । । S S

"जीती जाती हुई जिन्होंने भारत-वाजी।
निजबल से मल मेट विधर्मी मुगल कुराजी।
जिनके आगे ठहर सके जंगी न जहाजी॥
हैं ये वही प्रसिद्ध छत्रपति भूप शिवाजी॥"

इसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ हैं और ११-१३ पर यति हुई हैं। अतः यहाँ रोला छन्द है।

हरिगीतिका—हरिगीतिका के प्रत्येक चरण में १६-१२ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं। अन्त में एक लघु और एक गुरु होता है; जैसे—

I I S I S S S IS I I I I I S S S I S
"खग वृन्द सोता है अतः कल कल नहीं होता वहाँ,
बस मन्द मारुत का गमन ही मौन है खोता जहाँ,
इहि भाँति धीरे से परस्पर कह सजगता की कथा,
यों दीखते हैं वृक्ष ये हों विश्व के प्रहरी यथा।"

इसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ हैं; १६-१२ पर यति हुई है और अन्त में लघु गुरु भी है। अतः यहाँ हरिगीतिका छन्द है।

इन्द्रवज्रा—त त ज ग ग अर्थात् दो तगण (SSI SSI) जगण (ISI) और दो गुरु (SS) इस प्रकार प्रत्येक चरण में ११ वर्णों का इन्द्रवज्रा होता है; जैसे—

S S I S S I I S I S S
"मैं जो नया ग्रन्थ विलोकता हूँ।
भाता मुझे सो नव मित्र-सा है।
देखूँ उसे मैं नित बार-बार
मनो मिला मित्र मुझे पुराना।"
(प त ज ग ग, १२ वर्ण)

उपेन्द्रवज्रा—ज त ज ग ग अर्थात् जगण (ISI) तगण (SSI) जगण (ISI) और दो गुरु (SS)—इस तरह प्रति चरण में ११ वर्णों का उपेन्द्रवज्रा होता है।

I S I S S I I S I S S
"कहीं वहीं भूल न जाइएगा।
पधारिए सत्वर आइएगा॥
बने स्वयं सत्पथ सौख्यकारी।
सुकर्म हों विघ्न विपत्तिहारी॥"
(ज त ज ग ग, ११ वर्ण)

मन्दाक्रान्ता—'म भ न त त ग ग' अर्थात् मगण (SSS) भगण (SII) नगण (III) तगण (SSI) तगण (SSI) और दो गुरु (SS)—इस तरह प्रत्येक चरण में १७ वर्णों का मन्दाक्रान्ता होता है। इसमें ४, ६ और ७ वर्णों पर यति होती है; जैसे—

SSSS ।। । । । S S ।S S। SS
"जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठावश विवश हो चित्त में सोचती हूँ।"
(प्रत्येक चरण में म भ न त त ग ग, १७ वर्ण; ४, ६, ७ पर यति)

द्रुतविलंबित—द्रुतविलम्बित छन्द नगण (।।।) दो भगण (S।।, S।।) और रगण (S।S) के योग से बनता है। इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में १२ वर्ण होते हैं। इसे 'सुन्दरीय', 'हरणीलुप्ता' नाम भी दिया गया है। उदाहरण है :

।।। S। ।S ।।S।S
"दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा।"
(प्रत्येक चरण में न, भ, भ, र, १२ वर्ण)

मत्तगयंद—मत्तगयंद छन्द सात भगण (S।।, S।।, S।।, S।।, S।।, S।। S।।) और दो गुरुओं (SS) के योग से बनता है इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में २३ वर्ण होते हैं; जैसे—

S । । S । । S । । S ।। S ।।S। ।S। ।SS
"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्ध नवौं निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं॥
रसखान कबौं इन नैनन तें ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥"
(प्रत्येक चरण में ७भ+२ग, २३ वर्ण)

इसे सवैया छंद भी कहते हैं।

बरवै—बरवै छन्द के विषम चरणों (पहले और तीसरे) में १२ मात्राएँ और सम चरणों (दूसरे और चौथे) में सात मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार इसके प्रत्येक दल में १६ मात्राएँ होती हैं। सम चरणों के अन्त में जगण (।S।) का प्रयोग उसकी सुन्दरता को बढ़ा देता है; जैसे—

।।। । ।।। । ।S। । । । ।।S।
"गरब करहु रघुनन्दन, जनिमन माह।
देखहु आपनि मूरति, सिय के छाँह।"

कुण्डलिया—कुण्डलिया छन्द ६ पंक्तियों का होता है। प्रथम दो दल दोहा के होते हैं और अन्तिम चार रोला के। इस प्रकार कुण्डलिया के प्रत्येक चरण में २४-२४ मात्राएँ होती हैं। दोहा के चौथे पाद को रोला के प्रथम पाद में दोहराया जाता है और दोहा का प्रथम पाद जिस शब्द से प्रारम्भ होगा, वही शब्द रोला के चतुर्थ पाद के अन्त में दोहराया जाएगा ; जैसे—

S S I I I I S I S S I I S I I S I
"साईं अवसर के परे, को न सहै दुख द्वन्द।
जाय विकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द"
S SS I I S I I S I I I I I I S S
"वै राजा हरिश्चन्द, करे मरघट रखवारी।
धरे तपस्वी भेस, फिरे अर्जुन बलधारी।
कह गिरिधर कविराय, तपै वह भीम रसोई।
को न करै घरि काम, परे अवसर के साईं॥"

दोहा—दोहा छन्द के विसम चरणों (पहले और तीसरे) में १३ मात्राएँ तथा समचरणों (दूसरे और चौथे) में ११ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार इसके प्रत्येक दल में २४ मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में लघु (।) होना आवश्यक है। जैसे—

S I S I I I S I I I I I I S I I I S I
"जन्मु सिन्धु पुनिबन्धु विलु दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो रंक॥"

सोरठा—सोरठा छन्द के विषम चरणों (पहले और तीसरे में) ११ और समचरणों (दूसरे और चौथे) में १३ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार इसके प्रत्येक दल में २४ मात्राएँ होती हैं। इसके समचरणों में जगण (।S।) नहीं होता। यह छन्द दोहा छन्द का ठीक उलटा होता है—'तेरह सम विसमेश दोहा उल्टा सोरठा।' कहीं-कहीं सोरठा के दूसरे और चौथे चरण में तुक भी मिल जाती है, पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता ! जैसे—

I I I I I I I I S I I I S I I I I I I I I I
जिहि सुमिरत सिधि होइ, गण नायक करिवर बदन।
करहु अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुन सदन॥

कवित्त—कवित्त छन्द के प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं। १६ वें और ३१ वें वर्ण पर यति होती है। इस छन्द के चरण के अन्त में गुरु (ऽ) होता है। यथा—

"नन्द औ जसोमति के प्रेम पगे पालन की,
लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।
कहै 'रत्नाकर' सुधाकर प्रभा सौं मढ़ी,
मंजु मृग नैननि के गुन-गन गावती।
जमुना-कछारनि की रंग-रस-रारनिकी,
विपिन-विहारनि की हौंस हुमसावती।
सुधि ब्रज-वासिन दिवैया सुख-रासनिकी,
ऊधौ, नित हमकौं बुलावन कौ आवती।"

हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रश्न १—प्रमुख इतिहासकार के मतो की समीक्षा करते हुए हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन की समस्या पर विचार कीजिए।

अथवा

हिन्दी साहित्य के आदि-काल और उत्तर मध्यकाल के नामकरण की समस्या पर युक्तिसम्मत विवेचन कीजिए।

अथवा

साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन और नामकरण किस आधार पर किया जाता है ? हिन्दी साहित्य के आदिकाल का समय निर्धारित और नामकरण कीजिए।

अथवा

हिन्दी साहित्य के आदिकाल को वीरगाथाकाल कहना कहाँ तक उचित है ? इस सम्बन्ध में किन्हीं दो मतों का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

१०वीं से १४वी शताब्दी तक के हिन्दी-साहित्य को कुछ लोग 'वीरगाथा काल' कहते हैं; कुछ लोग 'सिद्ध-सामन्त युग' और कुछ लोग 'चारण काल'। इन नामों के मूल में काम करने वाली विचारधाराओं का परिचय देते हुए बताइये कि नई जानकारियो के आलोक में इस काल का उचित नामकरण क्या हो सकता है ?

अथवा

हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन जब वीरगाथा काल, भक्ति, रीति और आधुनिक के रूप में किया जाता है तब आधुनिक इसमें संगत नहीं बैठता। इस असंगति का क्या कारण है ? क्या इसे कम किया जा सकता है ? इन कालों का नामकरण क्या हो सकता है ?

अथवा

आचार्य शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के कालो का जो नामकरण किया है वह कहाँ तक संगत है ? इसको क्या आधार बनाया जा सकता है ?

उत्तर—हिन्दी साहित्य में आलोचना जितनी समृद्धि प्राप्त कर चुकी है उतनी समृद्धि इतिहास को नहीं मिल पायी है। कारण अनेक हैं तथा प्रयास भी इस दिशा मे सतत् हो रहे हैं। काल-निर्धारण और नामकरण ये दोनों ही बातें साहित्येतिहास के संदर्भ में अत्यन्त महत्व रखती हैं पर इन दोनों महत्वपूर्ण कार्यों को भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधार पर सम्पन्न किया है जिसके कारण इनमें एकरूपता तथा वैज्ञानिकता दोनों का ही अभाव हो चला है। हिन्दी साहित्य का इतिहास के सम्पादक डा० नगेन्द्र के अनुसार साहित्येतिहास के काल-विभाजन और नामकरण के आधार निम्न प्रकार के माने गये हैं :—

(१) **ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार** : आदिकाल, मध्यकाल, संक्रांतिकाल, आधुनिक काल आदि।

(२) **शासक और उसके शासन काल के अनुसार** : एलिजाबेथ युग, विक्टोरिया युग, मराठा काल आदि।

(३) **लोक नायक और उसके प्रभाव काल के अनुसार** : चैतन्यकाल (बांग्ला) गांधी युग (गुजराती) आदि।

(४) **साहित्य नेता एवं उसकी प्रभाव-परिधि के आधार पर** : रवीन्द्र युग, भारतेन्दु युग आदि।

(५) **राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आन्दोलन आधार पर** : भक्तिकाल, पुनर्गठन काल, सुधार काल, युद्धोत्तर काल (प्रथम महायुद्ध के बाद का काल-खण्ड) स्वातन्त्र्योत्तर काल आदि।

(६) **साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर**—रोमानी युग, रीतिकाल, छायावाद-युग आदि।

जहाँ तक काल-विभाजन की आवश्यकता की बात है वह अत्यन्त स्पष्ट है। क्योंकि वस्तु के समग्र रूप का दर्शन करने के लिए उसके अंगों का ही निरीक्षण कर हम निष्कर्ष पर पहुँच सकते है। अवयवों को पृथक मानकर

उनका निरीक्षण करना, खण्ड दर्शन है, किन्तु उनको व्यक्तित्व के अंग मानकर उनका निरीक्षण करना समग्र दर्शन है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि जीवन या साहित्य को अखण्ड प्रवाह मानने पर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उसमें समय-समय पर दिशा-परिवर्तन और रूप-परिवर्तन होता रहता है। अपनी सीमाओं के कारण दृष्टि सब कुछ एक साथ एक ही बार नहीं देख पाती, देख सकती भी नहीं। अतः साहित्य की अखण्ड परम्परा का निरूपण ही इतिहास का लक्ष्य मानते हुए भी उसमें समय-समय पर आये परिवर्तनों के अनुसार भी विकास-क्रम का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

काल विभाजन का सही आधार—डा० नगेन्द्र के मतानुसार वर्ग विभाजन प्रायः समान प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है। समान प्रकृति के अनेक पदार्थ मिलकर एक वर्ग बनाते हैं और इस प्रकार समप्रकृति के आधार पर अनेक वर्गों में विभक्त होकर अस्तव्यस्त समूह व्यवस्थित रूप धारण कर लेता है। जिस प्रकार प्रवाह के अन्दर अनेक धाराएँ होती हैं उसी प्रकार इतिहास में भी अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं, और इन प्रवृत्तियों का आदि-अन्त या उतार-चढ़ाव ही इतिहास का काल-विभाजन करता है। यह वर्ग विभाजन अपने आप में परिपूर्ण नहीं हो सकता, फिर भी समूह का पर्यवेक्षण करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। काल निर्धारण का आधार भी समान प्रकृति और प्रवृत्ति ही होती है। अतः काल विभाजन का आधार साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों का साम्य-वैषम्य ही हो सकता है। समान प्रकृति और प्रवृत्ति की रचनाओं का, काल क्रम से, वर्गीकृत अध्ययन कर साहित्य का इतिहासकार सम्पूर्ण साहित्य समष्टि का समवेत अध्ययन करने का प्रयत्न करता है।

डा० नगेन्द्र के अनुसार नामकरण के पीछे कुछ न कुछ तर्क अवश्य रहता है अथवा रहना चाहिए। नाम की सार्थकता इसमें है कि वह पदार्थ के गुण अथवा धर्म का मुख्यतया द्योतन कर सके। इस तर्क से किसी काल-खण्ड का नामकरण ऐसा होना चाहिए जो उसकी मूलभूत साहित्यिक चेतना को प्रतिबिम्बित कर सके।

साहित्य के इतिहास में नामकरण का मूल आधार है—काल विशेष की साहित्यिक चेतना का प्रतिफलन जिसका माध्यम सामान्यतः उस युग की सर्वप्रथम साहित्यिक प्रवृत्ति ही हो सकती है। लेकिन यह अनिवार्य नहीं है और

इस प्रसंग में एकरूपता का प्रयत्न एक सीमा से आगे करना असंगत भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि किसी काल-खण्ड में एक ही प्रवृत्ति संपूर्ण साहित्य-चेतना का प्रतिनिधित्व करे। जहाँ ऐसा है वहाँ नामकरण का प्रश्न सरल हो जाता है जैसे रीतिकाल में या छायावाद युग में।

कभी-कभी लोकनायक या साहित्य-नेता का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होता है कि वह सम्पूर्ण काल खण्ड की चेतना पर व्याप्त हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम उदाहरणार्थ लिया जा सकता है।

किसी-किसी युग में किसी एक प्रवृत्ति को प्रतिनिधित्व देना या उसे प्रमुख कहना संभव नहीं हो पाता। स्थिति में यदि किसी प्रवृत्ति विशेष को आधार मानकर यदि नामकरण किया जाय तो अव्याप्ति दोष के कारण नामकरण अनुचित हो जायेगा। 'वीरगाथा काल' नामकरण इसी अव्याप्ति दोष का नमूना है। ऐसी स्थिति में 'आदिकाल' नामकरण ही अधिक उपयुक्त माना जाएगा।

निष्कर्ष यह है कि काल-विभाजन और नामकरण में एकरूपता को अनिवार्य नहीं माना जा सकता। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है—

'आवश्यकता इस बात की है कि काल विभाजन विवेक सम्मत हो, जो साहित्य की परम्परा को सही रूप में समझने में सहायक हो। साथ ही नाम ऐसा होना चाहिए जो युग की चेतना का सही ढंग से प्रतिफलन करता हो। यदि साहित्यिक नामकरण से भ्रान्ति उत्पन्न होती हो तो अन्य उचित आधार ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। नाम के लिए रूप का बलिदान नहीं करना चाहिए।'

हिन्दी साहित्य के परम्परागत काल विभाजन की समीक्षा

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक लेखकों में गार्सा द तासी एवं शिवसिंह सेंगर ने काल-विभाजन की दिशा में कोई प्रयास नहीं किये। सर्वप्रथम सर जार्ज ग्रियर्सन इस दिशा में सक्रिय हुए और उन्होंने हिन्दी-साहित्य के कालों का विभाजन इस प्रकार किया--

१. चारण काल—७००-१३०० ई०।

२. पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण।

३. जायसी की प्रेम कविता।

४. व्रज का कृष्ण सम्प्रदाय।

५. मुगल दरबार।

६. तुलसीदास।

७. रीतिकाव्य।

८. तुलसीदास के अन्य परवर्ती।

९. अठ्ठारहवीं शताब्दी।

१०. कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान।

११. विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान।

साहित्येतिहास के नामकरण के जिन सिद्धान्तों को हमने मानदण्ड माना है उन पर ग्रियर्सन के नामकरण पर्याप्त दोषप्रद सिद्ध होते है अतः ये स्वीकार्य नहीं हो सकते।

मिश्र बन्धुओं का नामकरण :—

(१) आरंभिककाल—(i) पूर्वारंभिक काल (७००-१३४३ वि०)
(ii) उत्तरारंभिक काल (१३४४-१४४४ वि०)

(२) माध्यमिक काल—(i) पूर्वमाध्यमिक काल (१४४५-१५६० वि०)
(ii) प्रौढ़माध्यमिक काल (१५६१-१६८० वि०)

(३) अलंकृत काल—(i) पूर्वालंकृतकाल (१६८१-१७९० वि०)
(ii) उत्तरालंकृतिकाल (१७९१-१८८९ वि०)

(४) परिवर्तनकाल (१८९०-१९२५ वि०)

(५) वर्तमानकाल (१९२६ वि० से अद्यावधि)

ग्रियर्सन की अपेक्षा युक्तिसंगत होते हुए भी मिश्रबंधुओं का काल-विभाजन पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं है। ७०० से १३०० शती ई० के अपभ्रंश साहित्य को भी हिन्दी में समेट लेना भी इस वर्गीकरण का दोष है।

इस दिशा में प्रथम उल्लेखनीय प्रयास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को निम्नलिखित चार कालों में बाँटा है :—

(१) आदिकाल (वीरगाथा काल, सम्वत् १०५०-१३७५)

(२) पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल, सम्वत् १३७५-१७००)

(१) आदि युग (वीरगाथा काल १०५०-१४०० संवत्)
(२) पूर्व मध्य युग (भक्ति युग १४००-१६०० संवत्)
(३) उत्तर मध्य युग (रीति ग्रन्थों का युग १६००-१९००)
(४) आधुनिक युग (नवीन विकास का युग सं० १९०० से अब तक)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने समूचे ग्रंथ समूह को साहित्य मानकर उसे तीन श्रेणियों मे बाँटा है—सूचनात्मक साहित्य, विवेचनात्मक साहित्य और रचनात्मक साहित्य। अन्तिम प्रकार के साहित्य को विवेच्य मानकर द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार काल-खण्डों में बाँटा है—

(१) आदिकाल १०००-१४०० ईसवी सन् तक,
(२) भक्ति काल १४०० से १६५० ईसवी सन् तक,
(३) रीतिकाल १६५०-१९०० ईसवी सन् तक,
(४) आधुनिक काल १८०० से अब तक।

ध्यातव्य है कि रीतिकाल का विस्तार सन् १९०० तक तथा आधुनिक काल का आरम्भ सन् १८०० से मानने के कारण एक काल दूसरे काल में प्रविष्ट हो गया है।

कालों के नामकरण में भेद

उपर्युक्त पंक्तियों में हम रीतिकाल और आधुनिक काल के उचित नामकरण तथा मतभेदों की चर्चा संक्षेप में कर चुके हैं अतः यहाँ केवल आदि काल के विषय में मतभेदों की ही चर्चा करेंगे क्योंकि भक्तिकाल नाम भी प्रायः स्वीकृत है।

सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' में इसे आदिकाल के नाम से पुकारा है।

आचार्य शुक्ल ने इस काल को वीरगाथा काल की संज्ञा दी और इस काल की वीरगाथाओं का परिचय देते हुए कहा कि इस काल के अधिकांश कवि चारण थे। संभवतः डा० वर्मा ने वीरगाथा काल को इसी आधार पर चारण काल कहा। पर आधुनिक शोध के आलोक में आरम्भिक कालीन साहित्य में चारण प्रवृत्ति की बहुलता सिद्ध नहीं होती।

राहुल जी ने प्रस्तुत काल को 'सिद्ध सामन्त युग' कहा और उसकी पूर्वा-

पर सीमाएँ 8वीं शती से १३ वीं शती तक बतायी। पर बाद के विद्वानों ने राहुल जी के इस मत को भावुकतापूर्ण और असंगत बताया।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय को हिन्दी का आदिकाल माना है। इस विषय में डॉ० नगेन्द्र का मत द्रष्टव्य है :

आदिकाल जैसा निर्विशेष नाम जो भाषा और साहित्य की आरम्भिक अवस्था मात्र का द्योतन करता है, विद्वानों को अधिक मान्य है और मैं समझता हूँ कि इसका कोई विकल्प नहीं है।'

इस प्रकार 'आदिकाल' नाम ही अधिक तर्क सम्मत और वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

आदिकाल के साहित्य की पूर्वापर सीमा के निर्धारण का कार्य भी विवादास्पद है। आचार्य शुक्ल ने इस काल का आरम्भ संवत् १०५० और अन्त संवत् १३७५ में माना है।

शुक्ल जी की इस मान्यता के मूल में उनकी प्राकृताभास, अपभ्रंश एवं देशी भाषा को हिन्दी के अन्तर्गत मानने की प्रवृत्ति है जिसका अनुकरण बाद के इतिहास लेखकों ने भी किया।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन और भी पीछे जाकर ८वीं शती के अपभ्रंशों को पुरानी हिन्दी की संज्ञा देकर इसी युग से सिद्ध-सामन्त युग का आरम्भ मानते हैं।

सीमा निर्धारण के कार्य में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम सतर्क दृष्टि का परिचय दिया। द्विवेदी जी ने अपभ्रंश और हिन्दी को भिन्न-भिन्न घोषित कर इन दोनों भाषाओं को भावुकतावश एक मानने की प्रवृत्ति को अवैज्ञानिक बताया। उनके ही शब्दों में—

'यह विचार (अपभ्रंशों को पुरानी हिन्दी कहना) भाषा शास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है।.........जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरी जी का सुझाव पंडितों को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई पुरानी हिन्दी नहीं कहता परन्तु 'जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है निस्संदेह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।"द्विवेदी जी ने हिन्दी का विकास लगभग १३वीं शताब्दी में स्वीकार किया है। उनके ही शब्दों में—

"हेमचन्द आचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द ने ग्राम्य कहा है। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है।"

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—'यह मालूम नहीं पड़ता कि यह हिन्दी ठीक-ठीक कौन सी बोली थी, परन्तु संभव है कि यह व्रजभाषा या पश्चात्कालीन हिन्दुस्तानी के सदृश न होकर १३वीं शती में प्रचलति सर्वसाधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो, क्योंकि-१३वीं १४वीं शती ईसवी तक हमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी का दर्शन नही होता।'

उदय नारायण तिवारी—आचार्य हेमचन्द के पश्चात् १३वीं शती के प्रारम्भ मे आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय १५वीं शती के पूर्व तक का काल संक्रांतिकाल था, जिसमें भारतीय भाषाएँ धीरे-धीरे अपभ्रंश की विशेषताओ से युक्त होती जा रही थीं।

प्रश्न ३—पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विभिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए आप अपनी तर्क पूर्ण मान्यता दीजिये।

अथवा

'पृथ्वीराज रासो' के कितने संरक्षण मिलते हैं ? इसकी प्रामाणिकता के बारे में विद्वानों के मतों की परीक्षा कीजिए।

उत्तर—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मत व्यक्त किया है कि चन्द हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और उनका 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है।' शुक्ल जी ने चन्दवरदायी को दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज चौहान का सामन्त और राजकवि माना है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार चन्दवरदायी का जन्म लाहौर में हुआ था। चन्दवरदायी के जन्मकाल के विषय में भी मतभेद है। आचार्य शुक्ल के अनुसार चन्दवरदायी जन्म वर्ष ११६८ ई० है। आचार्य शुक्ल के ही शब्दों में—

'रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी, जहां लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था।'

शुक्ल जी ने हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त चन्द को एक वंश वृक्ष भी प्रस्तुत किया है। शास्त्री जी को उस वंश वृक्ष की प्राप्ति नानूराम भट्ट से

प्राप्त हुयी थी जो स्वयं को चन्दवरदायी के वंश का मानता है। नानूराम भाट के अनुसार चन्द के चार पुत्र थे, चतुर्थ का नाम था जल्ल। पृथ्वीराज को जब मुहम्मद गोरी बन्दी बनाकर अपने देश ले जा रहा था, उस समय चन्द भी महाराज के साथ गया था तथा अपने पुत्र जल्ल को पृथ्वीराज रासो सौंप गया था। इस विषय में निम्न उक्ति प्रसिद्ध है—

'पुस्तक जल्हण हत्थ दे,
चलि गज्जन नृप काज ॥'

जनश्रुति है कि जल्ल ने ही चन्द के पृथ्वीराज रासो को पूरा किया था :

"रघुनाथ चरित हनुमन्तकृत,
भूप भोज उद्धरियजिनि।
पृथिराज सुजस कवि चन्द कृत,
चन्द नन्द उद्धरिय तिमि ॥"

चन्द पृथ्वीराज के परम मित्र और विश्वासनीय सखा थे। चन्द अत्यन्त वीर, स्वाभिमानी एवं दूरदर्शी व्यक्ति थे। पृथ्वीराज भी उसकी हर बात मानते थे।

पृथ्वीराज रासो के विविध संस्करण और उसका उद्धरण

पृथ्वीराज रासो के अनेक संस्करण उपलब्ध होते हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य माने गये हैं—

(i) बृहत रूपान्तर—इसकी कई प्रतियाँ उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में सुरक्षित है तथा इसके आधार पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण तैयार किया गया था। इसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ संवत् १०५० के बाद की हैं। वैसे नागरी प्रचारिणी सभा वाले संस्करण का आधार संवत् १६४१ की प्रति को बताया जाता है। इसमें ६९ समय (सर्ग) हैं तथा छंदों की संख्या १६३०६ है।

(ii) मध्यम रूपान्तर—इसकी कुछ प्रतियाँ अबोहर के साहित्य सदन, बीकानेर के जैन ज्ञान भंडार और श्रीयुत् अगर चन्द नाहटा के पास सुरक्षित हैं। पंडित मथुरा प्रसादशास्त्री के मतानुसार यही संस्करण प्रमाणिक है। इसकी उपलब्ध प्रतियाँ संवत् १७०० के बाद की हैं तथा इसमें सात हजार छन्द हैं।

(iii) लघु रूपान्तर—इसकी तीन प्रतियाँ बीकानेर की अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह १९ सर्गों में विभाजित है तथा इसमें प्राप्त श्लोकों की

संख्या ३५०० है। यहाँ उपलब्ध प्रतियों में से कुछ में ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनसे पता चलता है कि संस्करण का संकलन किसी चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति द्वारा हुआ था।

(iv) **लघुतम रूपान्तर**—इस संस्करण की खोज श्रीयुत अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पन्न हुयी थी। इस संस्करण मे प्राप्त श्लोकों की संख्या १३०० है तथा इसमें अध्यायो का विभाजन नहीं है।

डा० दशरथ शर्मा ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है।

उद्धरण कार्य—रासो के उद्धरण कार्य में तीन व्यक्तियों के नामों का उल्लेख किया जाता है—(१) झल्लर (जल्हन, जल्ल) (२) चन्दसिंह (३) अमर सिंह।

(१) जल्ल द्वारा पिता के आदेशानुसार रासो को पूरा करने की बात का उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में हो चुका है।

(२) **चन्द सिंह**—रासो के लघु रूपान्तर में 'चन्द सिंह उद्धरिम इम' यह पाठ मिलता है। इस चन्दसिंह के विषय मे डा० उदयनारायण तिवारी का मत द्रष्टव्य है—

'चांद सिंह अथवा चन्दसिंह महाराज मानसिंह के छोटे भाई तथा अकबर के सेनापति सूरजसिंह के पुत्र थे। इस प्रकार चन्दसिंह मानसिंह का भतीजा था।

(३) **अमर सिंह**—अमर सिंह द्वितीय भी रासो के उद्धारकर्ता माने जाते हैं। इनका शासन काल संवत् १७७५ से १८०८ है। अमर सिंह के उद्धार-कार्य की पुष्टि में निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया जाता है—

"छन्द प्रबन्ध कवित्त यति, सारक शाह दुहत्थ।
लघु गुरु पंडित खंडि यह पिंगल अमर भरत्थ॥"

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

उक्त चारों संस्करणों को देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इनमें से वस्तुतः प्रामाणिक संस्करण कौन-सा है ? और इसी से उत्पन्न वह विवाद होता है जिसके अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' को ही एक जाली ग्रंथ की संज्ञा दे दी जाती है। हिन्दी साहित्य में इस दृष्टि से यह ग्रंथ सर्वाधिक विवादास्पद रहा है।

प्रारम्भ में रासो को प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया। कर्नल टॉड ने इसे

प्रामाणिक समझ कर इसके साहित्यिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर इसके लगभग तीस हजार पद्यों का अनुवाद अंग्रेजी में किया था।

फ्रेंच विद्वान तासी ने भी इसे प्रामाणिक माना था। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने तो इसका प्रकाशन भी आरंभ कर दिया था। इसी बीच सन् १८७५ में डा० बूलर को कश्मीर में जयानक रचित 'पृथ्वी विजय' नामक संस्कृति काव्य-ग्रन्थ की उपलब्धि हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से बूलर महोदय को 'पृथ्वीराज विजय' की घटनाएँ 'पृथ्वीराज रासो' से अधिक शुद्ध प्रतीत हुईं। उन्हें रासो की प्रामाणिकता पर संदेह हुआ और उन्होंने उसका प्रकाशन स्थगित करवा दिया।

वैसे बूलर से भी पूर्व पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर जोधपुर के कविराज मुरारिदीन तथा उदयपुर के कविराज श्यामलदान ने शंका की थी पर डा० बूलर ने जब पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर संदेह किया तो अन्य भारतीय विद्वानों को भी इस दिशा में शोध करने की प्रेरणा मिली।

गौरीशंकर हीराचंद ओझा का नाम इनमें उल्लेखनीय है। इन्होंने अकाट्य तर्कों के आधार पर पृथ्वीराज रासो को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया। इधर डा० शर्मा ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य करके गौरीशंकर हीराचंद ओझा के मत अप्रामाणिक बताकर रासो की प्रामाणिकता सिद्ध की। रासो की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों के निम्नलिखित चार वर्ग हैं :—

(१) **प्रथम वर्ग**—इस वर्ग के अन्तर्गत कविराज श्यामलदान, कविराज मुरारिदान, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डा० बूलर, मॉरिसन, मुंशी देवी प्रसाद, श्री अमृतलाल शील, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० रामकुमार वर्मा आते हैं। इन विद्वानों के अनुसार रासो सर्वथा अप्रामाणिक ग्रंथ है। विद्वानों का यह वर्ग न तो रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना मानता है और न चन्द नाम के कवि के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है।

(२) **द्वितीय वर्ग**--इस वर्ग में डा० श्यामसुन्दर दास, मथुराप्रसाद दीक्षित, मोहनलाल विष्णु लाल पाण्डया, मिश्रबन्धु तथा मोती लाल मनेरिया आदि विद्वान आते हैं। इन विद्वानों के मतानुसार चन्द पृथ्वीराज के समकालीन थे तथा पृथ्वीराज रासो सर्वथा प्रामाणिक रचना है।

(३) **तृतीय वर्ग**—इस वर्ग में डा० सुनीतिकुमार मुनि जिन विजय, अगरचन्द नाहटा, डा० दशरथ शर्मा, कविराज मोहन सिंह, डा० हजारी प्रसाद

द्विवेदी आदि विद्वान आते हैं। इनके अनुसार पृथ्वीराज रासो की रचना चन्द द्वारा ही हुई थी और चन्द पृथ्वीराज के दरबार में रहते थे।

(४) **चतुर्थ वर्ग**—विद्वानों का चतुर्थ वर्ग चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन तो मानता है पर यह नहीं मानता कि उसने प्रबन्ध के रूप में रासो की रचना की होगी। नरोत्तमस्वामी आदि विद्वान जो इस वर्ग के हैं; जैन ग्रंथमाला में प्राप्त पदों को चंद की फुटकर रचना मानते हैं।

रासो की अप्रामाणिकता के कारण

रासो को अप्रामाणिक मानने के मूल में मुख्यत: तीन प्रकार की असंगतियाँ या वैषम्य का उल्लेख किया गया है :—

(१) घटना वैषम्य

(२) काल वैषम्य और

(३) भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था।

घटना वैषम्य—रासो में आये अनेक नाम तथा घटनाएँ इतिहास सम्मत नहीं हैं। उदाहरणार्थ :—

(१) रासो में परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रिय अग्नि वंशी माने गए हैं जबकि प्राचीन ग्रंथों और शिलालेखों के अनुसार वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं।

(२) चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माँ का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम सामन्तों के नाम आदि ऐतिहासिक शिलालेखों तथा पृथ्वीराज विजय नाम संस्कृत ग्रंथ से मेल नहीं खाते। रासो में पृथ्वीराज की माँ अनंगपाल की लड़की नहीं थी और न ही जयचन्द अनंगपाल का दौहित्र तथा राठौरवंशी थे। शिलालेखों के आधार पर वह राठौरवंशी क्षत्रिय सिद्ध होते हैं।

(३) गौरीशंकर हीरानन्द ओझा ने पृथ्वीराज तथा जयचंद की शत्रुता एवं संयोगिता स्वयंवर वाली बातों को भी अनैतिहासिक कहा है।

(४) इतिहास के अनुसार अनंगपाल उस समय दिल्ली का राजा नहीं था और न ही उसके द्वारा पृथ्वीराज को गोद लेने की बात ही पुष्ट होती है। पृथ्वीराज अजमेर का शासक था न कि दिल्ली का। बीसलदेव पहले से ही दिल्ली राज्य को अजमेर राज्य में सम्मिलित कर चुके थे।

(५) पृथ्वीराज की माँ का नाम कर्पूरदेवी था, न कि कमल, जैसा उल्लेख रासो में आया है।

(६) पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह से नहीं हुआ था क्योंकि शिलालेखों के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि समरसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् १०६ वर्ष जीवित रहे।

(७) गुजरात के राजा भीमसिंह द्वारा पृथ्वीराज का वध भी इतिहास सम्मत नहीं है क्योंकि भीमसिंह पृथ्वीराज के समय बालक ही था और वह पृथ्वीराज के बाद ५० वर्षों तक जीवित रहा।

(८) शहाबुद्दीन का मृत्यु सम्बन्धी वृतान्त भी मात्र कल्पना पर आधारित है क्योंकि गोरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथों नहीं, गाखरों के हाथों हुई थी।

(९) इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु ३० वर्ष की अल्पायु में ही होने की बात ज्ञात होती है जबकि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज के ११ वर्ष से ३६ वर्ष की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन उपलब्ध होता है।

(१०) शहाबुद्दीन गोरी द्वारा अमरसिंह का वध और पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध इतिहास विरुद्ध है।

काल वैषम्य—पृथ्वीराज रासो में आयी गई तिथियाँ, सम्वत् आदि भी इतिहास सम्मत नहीं। कर्नल टॉड के मतानुसार रासो मे दिये गये संवतों और अन्य ऐतिहासिक सम्वतों में लगभग सौ वर्ष का अन्तर है।

(१) रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् ११५८ में बतायी गई है जबकि इतिहास से वह संवत् १०४८ है। पृथ्वीराज के जन्म का उल्लेख रासो में संवत् १११५ के रूप में हुआ है जबकि इतिहास से यह संवत् ११९० सिद्ध होता है।

(२) आबू पर भीम चालुक्य का आक्रमण शहाबुद्दीन के साथ पुराडीर युद्ध की तिथियाँ भी इतिहास सम्मत नहीं।

(३) पृथ्वीराज की जीवन घटनाएँ—पृथ्वीराज का दिल्ली के राजा अनंगपाल की गोद जाना, मेवाती-मुगल युद्ध, संयोगिता स्वयंवर आदि घटनाओं का संवत् १४६० के लगभग रचित हम्मीर महाकाव्य में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर ही आचार्य शुक्ल ने पृथ्वीराज रासो को जाली ग्रंथ की संज्ञा दी है।

(३) **भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था**—रासो में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग बहुतायत से हुआ है जो चन्द के समय किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था। इसी

आधार पर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने रासो की भाषा को सोलहवीं शती की रचना माना है।

रासो को प्रामाणिक मानने वालों का मत

(१) डा० दशरथ शर्मा के मतानुसार रासो का मूल रूप प्रक्षेपों में छिपा हुआ है। इधर जो लघुत्तम प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं; उनमें ऐतिहासिक अशुद्धियाँ नहीं हैं।

(२) घटनाओं में ९०-१०० वर्षों का अन्तर वस्तुतः संवतों की भिन्नता के कारण है। मोहनलाल विष्णुलाल पाण्डया ने 'आनन्द संवत्' की कल्पना की है और उसके अनुसार संवत् सम्बन्धी अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं।

(३) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि रासो में बारहवीं शताब्दी की भाषा की संयुक्तताक्षरमय अनुस्वारान्त प्रवृत्ति मिलती है जिससे यह ग्रंथ बारहवीं शती का सिद्ध होता है।

(४) रासो इतिहास ग्रंथ न होकर काव्य-रचना है। अतः उसमें इतिहास सम्मत तथ्यों को न पाकर उसे अप्रामाणिक कहना उचित नहीं।

(५) डा० हजारीप्रसाद का मत है कि 'पृथ्वीराज रासो' को रचना शुक शुकी संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गों में यह शैली नहीं मिलती उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहिए। यदि यह तर्क मान लिया जाय तो वे ही अंश प्रायः प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं जिनमें इतिहास विरुद्ध तथ्य हैं।

(६) अरबी-फारसी शब्दों के विषय में यह तर्क दिया जाता है कि चंद लाहौर का निवासी था और वहाँ उस समय तक मुसलमानों का प्रभाव आ चुका था।

डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' के शब्दों में—

'वस्तुतः विद्वानों ने बाल की खाल खींचने की चेष्टा में अनेक ऐसे तर्क प्रस्तुत किये हैं, जो इस काव्य की प्रामाणिकता के लिए उचित कसौटी नहीं बन सकते। पृथ्वीराज रासो ही नहीं 'रामचरितमानस' सूरसागर, बीजक आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर भी यदि अनेक प्रकार के तर्क दिये जाएँ तो उनकी अप्रामाणिकता भी किसी न किसी सीमा तक संदेह का विषय बन सकती है।.........अतः प्रक्षिप्तांशों एवं इतिहास विरोधी कथनों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। चंद ने पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं का जैसा सजीव वर्णन किया है उसे देखकर यही कहा जा सकता

है कि वह पृथ्वीराज का समकालीन कवि था। अतः रासो को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। यदि इस विवाद में कोई सत्यांश झलकता भी है तो इतना ही कि 'पृथ्वीराज रासो' मे पर्याप्त प्रक्षिप्त अंशों का समावेश हो गया है।

प्रश्न ३—वीरगाथा काव्य की विशेषताएँ बतलाइए और संक्षेप में तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल को, जिसकी स्थिति संवत् १०५० से संवत् १३७५ तक मानी जाती है; विषयवस्तु के आधार पर वीरगाथाकाल की संज्ञा दी जाती है। अधिकांश मे इस काल का साहित्य चारण एवं भाटों द्वारा रचा गया और उसमें आश्रयदाता और नरेशों के पराक्रम का ही अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन रहा। अतः इसे चारण-काल तथा वीरगाथाकाल के नाम से अभिहित किया जाता है।

राजनैतिक दृष्टि से इस काल में भारतवर्ष में किसी एक सुदृढ़ एवं केन्द्रीय शासन का अभाव था। सम्पूर्ण राष्ट्र छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटा हुआ था और इन छोटे टुकड़ों के अधिकारियों में भी पारस्परिक एकता के स्थान पर वैमनस्य की ही प्राचुर्य था। झूठे मद के आवेश में ये परस्पर एक-दूसरे पर आक्रमण किया करते थे और इस प्रकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहे थे। इनकी इस पारस्परिक फूट के फलस्वरूप देश पर वाह्य आक्रमण होना प्रारम्भ हो गए थे और इन आक्रमणकारियों ने देश के उत्तरी-पश्चिमी भाग के कुछ प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। संक्षेप में, यह काल वाह्य एवं आन्तरिक—दोनों ही दशाओं में युद्ध की विभीषिका का काल था—

इस युग की धार्मिक अवस्था भी सुदृढ़ न थी। बौद्ध और जैन दोनों ही धर्मों के पतन होने के फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म पुनः शक्ति ग्रहण कर रहा था और इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न कर रहा था। हिन्दू-समाज अनेक बुराइयों का घर बन चुका था; फलस्वरूप उसका नैतिक ह्रास हो चला था। इस संघर्ष और क्रान्ति के समय में राजाओं की सभा में चारण और भाट उनकी विरुदावलियों का वर्णन करके उनमें उत्साह को जन्म देने में सहायक बन रहे थे। इस प्रकार कविता जीविकोपार्जन का साधन मात्र

बनकर रह गई थी। इस काल के प्रमुख कवि हैं–चन्दवरदाई, दलपति विजय, नरपति नाल्ह, जगनिक, भट्ट केदार और विद्यापति आदि। प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—पृथ्वीराज रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो, परमाल रासो, आल्ह-खण्ड एवं जयचन्दप्रकाश आदि।

प्रतिपाद्य विषय—वीरगाथाकाल की कविता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कवियों द्वारा अपने-अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करना है। इस प्रकार उनकी कविता में एकमात्र अपने उद्देश्य को दृष्टिपथ में रखकर कथा के स्वाभाविक विकास की उपेक्षा की गई है। राजाओं द्वारा की गई रणसज्जा, शत्रु-विजय और आखेट आदि का वर्णन ही इनको इष्ट रहा है। किसी नरेश की सुन्दर राजकुमारी भी अनेक बार युद्ध के कारण के रूप में चित्रित की गई है। अतः कहीं-कहीं उसका नख-शिख वर्णन एवं उद्दीपन-स्वरूप षड्ऋतु वर्णन को भी इन कवियों ने अपनी कविता का विषय बनाया है और इस सन्दर्भ में बड़ी अच्छी अच्छी कल्पनाएँ और ऊहाएँ भी प्रस्तुत की हैं।

रसयोजना—आश्रयदाताओं की वीरता को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाने के कारण इन कवियों की कविता का मुख्य रस वीर रस है। वीर रस अपने सम्पूर्ण रूप में ही यहाँ देखने को मिलता है। वीर रस के साथ इनका अन्य प्रिय रस श्रृंगार है। राजकुमारियों के वर्णन में उन्होंने इस रस की सुन्दर व्यंजना की है। युद्धस्थल के चित्रण में वीभत्स रस में सजीव चित्र इन कवियों ने चित्रित किए हैं। वीभत्स के अतिरिक्त वीर रस के दो अन्य सहकारी रसों—रौद्र और भयानक का चित्रण भी इनकी कविता में मिलता है। वात्सल्य, हास्य, शान्त एवं अद्भुत रसों के चित्र इस युग की कविता में प्रायः नगण्य ही हैं।

प्रकृति-चित्रण—वीरगाथा युग के कवियों ने प्रकृति को आलम्बन, उद्दीपन और अलंकरण रूप में ग्रहण किया है। इसके आलम्बन रूप के चित्रण में नाम परिगणनात्मक शैली के समाश्रय से काव्य प्रायः नीरस-सा हो गया है। उद्दीपन की कोटि में षड्ऋतु आदि के चित्र आते है और नायिका के नख-शिख के वर्णनों में प्रकृति का उपयोग अलंकरण रूप में किया गया है। संक्षेप में, प्रकृति को इस काल की कविता में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो सका।

भाषा—वीरगाथाकाल के कवियों ने अपनी कविताएँ राजस्थानी डिंगल भाषा में कीं। यत्र-तत्र इस भाषा में संस्कृत, अरबी, फारसी और प्राकृत आदि

भाषाओं के शब्द भी समाविष्ट हैं। वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए यह भाषा सर्वाधिक उपयुक्त है। व्याकरण-सम्बन्धी अनेक त्रुटियों के रहने पर भी यह कहा जा सकता है कि यह भाषा पर्याप्त ओज और सजीव प्रवाह से युक्त है।

छन्द-योजना—वीरगाथा युग की कविता को छन्दों के प्रयोग में पर्याप्त सफलता मिल सकी है। भाव एवं प्रसंगों के यथार्थ चित्रण में ये छन्द पर्याप्त सफल हो सके हैं। दूहा, त्रोटक, तोमर, पद्धरी, कवित्त, भुजंगी और आर्या आदि वीरगाथा कालीन कविता के प्रमुख छन्द हैं। रसों का सजीव विलास एवं विकास इन छन्दों की लय और गति से गुँथा हुआ सा प्रतीत होता है।

अलङ्कार योजना—वीरगाथा युग की कविता में अलङ्कारों का सचेष्ट प्रयोग देखने को नहीं मिलता। कविता के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए कुछ अलङ्कारों का स्वाभाविक एवं सफल प्रयोग अवश्य देखने को मिलता है। अतिशयोक्ति और अत्युक्ति अलङ्कारों का प्रयोग ही सर्वाधिक है, जो कहीं-कहीं ऐतिहासिक तथ्य तक उपेक्षा कर देता है। इनके अतिरिक्त, अन्य प्रसिद्ध अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अनुप्रास की गणना की जा सकती है।

काव्य रूप—वीरगाथाकाल में प्रबन्ध और मुक्तक—दोनों ही प्रकार के काव्य प्राप्त हैं। चन्दवरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का आदि महाकाव्य माना जाता है।

अन्य विशेषताएँ

वीरगाथाकालीन हिन्दी कविता की उपरिलिखित विशेषताओं एवं तथ्यों के अतिरिक्त कुछेक अन्य विशेषताएँ भी हैं; जो निम्नलिखित हैं—

(अ) रचनाओं की अप्रामाणिकता—वीरगाथाकाल की प्रायः सभी रचनाओं को प्रामाणिकता की दृष्टि से संदेह से देखा जाता है। विद्वानों की धारणा है कि इस काल के प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ अब मूल रूप से इतने अधिक परिवर्द्धित हो गए हैं कि उनके मूलमात्र का अनुशीलन नितान्त दुष्कर कार्य हो गया है। सम्भवतः इसका कारण यह ही रहा होगा कि चारणों के द्वारा रचा गया यह साहित्य मूल रूप में लिपिबद्ध न होकर परम्परागत वृद्धि पाता गया।"

(आ) ऐतिहासिकता का अभाव—वीरगाथाकाल की रचनाओं में ऐतिहासिकता का भी अभाव है। न केवल इन रचनाओं में वर्णित घटनाएं ही इतिहास की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, अपितु संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों की घट-

नाओं से भी वे मेल नहीं खातीं। इसका कारण कवि द्वारा अपने आश्रयदाता की प्रशंसा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करना मात्र ही समझा जाता है।

(इ) राष्ट्रीयता का अभाव—वीर रस पूर्ण इन रचनाओं में राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य के कारण किसी सुदृढ़ राष्ट्रीयता का अभाव है। यद्यपि उनमें विदेशी शासकों के आक्रमण के विरोध में ओज और वीरता के दर्शन होते हैं, तदपि यह सब एकांगी बनकर रह जाता है। उनकी दृष्टि व्यष्टि से हट कर समष्टि तक नहीं पहुँच पाती और इस प्रकार पारस्परिक गृह-युद्ध को भड़का कर राष्ट्रीय भावना तक के जन्म का कारण बन जाती है।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य का यह आदिकाल—वीरगाथाकाल अपने शौर्य और पराक्रम की अभिव्यक्ति में अद्वितीय है। यह बात दूसरी है कि उनका यह शौर्य गलत दिशा में मुड़ा, किन्तु शौर्य का एक स्थान पर ऐसा ओजपूर्ण वर्णन हिन्दी-कविता में एकमात्र इसी युग में मिलता है। इन कवियों का यह वर्णन इसलिए और भी अधिक स्वाभाविक बन गया है कि ये स्वयं तलवार के धनी थे। अतः इनके वर्णनों में सजीवता और सत्यता पूर्णरूपेण विद्यमान है। राजस्थानी वीरों के रक्त से लिखे गए इस साहित्य की प्रशंसा अनेक विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से की है।

प्रश्न ४—'संत-काव्य' की साहित्यिक विशेषताओं का मूल्याङ्कन कीजिए।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'भक्तिकाल' अपनी काव्य-परम्परा तथा तद्गत आधारभूत निष्ठा के कारण अन्य कालों की अपेक्षा कहीं अधिक समादृत हो सका है। इस काल के काव्य में लोक-भावना को गौण तथा ईश्वरीय भावना को मुख्य प्रश्रय प्राप्त हुआ; इससे एक ओर जहाँ वह जन-जन के आदर का पात्र बन सकी, वहाँ दूसरी ओर उसमें अमरत्व के भी दर्शन हुए। वासना की गन्ध से शून्य इस काल का काव्य-साहित्य भक्ति-सरोवर में अरुण रश्मियों से कान्त-सम्पन्न पंकजश्री को निश्चय ही प्राप्त कर लेता है।

निष्ठा की एकता होने पर भी तदर्थ साधनों की एकता की साधना इस काल में सम्भव न हो सकी। अतः एक ओर जहाँ उस सर्वशक्तिमान ईश्वर की अपरिमेय शक्ति से सम्पन्न होने पर अलख, अजन्मा, अरूप आदि मानकर उसकी उपासना निर्गुण भावनाओं के आधार पर की गई, वहाँ दूसरी ओर उसे

ईश्वर-प्राप्ति में जाति-पाँति बन्धन को उन्होंने व्यर्थ बताया तथा 'हरि को भजै सो हरि का कोई'—के सिद्धान्त की स्पष्ट शब्दों में घोषणा की। मूर्ति-पूजा के प्रति इनके हृदय में स्पष्ट आक्रोश प्रतीत होता है। मूर्ति-पूजक हिन्दुओं को उन्होंने बुरी तरह फटकारा—

"पाहन पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार॥"

इसी प्रकार मस्जिद पर चढ़कर चिल्लाने वाले मुल्लाओं का भी उन्होंने उपहास किया—

'काँकर पाथर जोरि कै मसजिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, का बहिरा हुआ खुदाय॥"

इन सन्तों ने उन समस्त मिथ्या-वाह्याडम्बरों को त्याज्य बताया, जिनसे अज्ञान के पाश में जकड़े जाने पर ईश्वर-प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।

इसके साथ ही, उन्होंने हिंसा का परित्याग करके अहिंसा के मार्ग का अवलम्बन करने का भी मन्तव्य प्रकट किया। सन्त कबीर साकत (शाक्त) के गाँव की अपेक्षा वैष्णव की कुटिया में रहने की बात कहते हैं, तो उसके पीछे उनका अहिंसक दृष्टिकोण ही कारण है—**'वैसनू की कुटिया भली नहीं साकत का गाँव।'**

रस योजना—सन्त कवियों की कविता का मूल उद्देश्य इस लोक की उपेक्षा करके मोक्ष-प्राप्ति रहा। अतः स्वाभाविक रूप से ही इनके काव्य में शान्तरस की प्रमुखता रही जिसका स्थायीभाव स्वयं निर्वेद (अनासक्ति) है। इसके अतिरिक्त अन्य रस या तो इस मुख्य रस के सहायक बनकर आए अथवा इस लोक के चित्रण के रूप में प्रयोग हुए। **'राम मेरे पिउ मैं राम की बहुरिया'** तथा **'दुलहिन गावहु मंगलचारहमारे घर आए राजा राम भरतार'** आदि स्थानों में जो शृङ्गार की आयोजना की गई, वह मुख्यतः शान्त रस को ही पुष्ट करती है। इस प्रकार के शृङ्गारिक चित्रण से ही इस काल के काव्य में मधुर भावना वाले रहस्यवाद का जन्म हुआ। संसार की आपदाओं से ग्रस्त जीवन के चित्रण में करुण तथा साधना में स्थिर बने रहने की दशा में वीर रस की समावेश इनके काव्य में सम्भव हो सका है। विश्वोत्पत्ति के प्रसंग में अथवा उलटवाँसियों आदि की आयोजना में अद्भुत रस को भी स्थान मिला। किन्तु इस प्रकार इन अनेक रसों की यत्र-तत्र झाँकी मिलने पर भी यह तो स्पष्ट ही

है कि इन सब में मुख्यता शान्त रस को ही प्राप्त हो सकी और ये सब या तो सहायता मात्र बनकर रह गए अन्यथा उनके केवल हल्के चित्र मात्र ही सम्भव हो सके।

प्रकृति-चित्रण—प्रकृति इन कवियों का विषय नहीं थी। अतः स्वतन्त्र रूप में प्रकृति का चित्रण इनके द्वारा सम्भव नहीं हो सका। एकमात्र आलंकारिक रूप में ही वह सम्भव हो सका। आत्मा-परमात्मा का एकीकरण आलंकारिक रूप से इस प्रकार व्यक्त किया गया—

"जैसे जल में तरंग तरंगनि ऐसे हम दिखरावहिंगे।"

तथा जीवन की निस्सारता एवं क्षणभंगुरता का उपदेश निम्न प्रकार से दिया गया—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात।"

दार्शनिकता—सन्त कवियों ने अपनी कविता में जिस दार्शनिक मत का सन्निवेश किया तथा अपनी अटपटी वाणी के द्वारा उन्होंने अपने जिन दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति की, वे उनके अपने अनुभव तथा श्रुतिजन्य ज्ञान के फल हैं। वे दर्शन-ग्रन्थों के पण्डित न थे और 'मसि कागद छुओ नहीं कलम गही नहि हाथ'—की घोषणा करके एक प्रकार से उन्होंने अपना बिना पढ़ने-लिखने वाला रूप प्रदर्शित भी कर दिया है, इतने पर भी वे बहुश्रुत थे। घुमक्कड़ होने के कारण उन्होंने अनेक व्यक्तियों के संसर्ग के दर्शन का रूप समझने का प्रयत्न किया था और इससे भी सुन्दर प्रयत्न था उनका उस दर्शन को, जीव ब्रह्म की एकता को जनता तक पहुँचाना, जिसमें उन्हें किसी सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई।

इन सन्त कवियों का जीवन और ब्रह्म की एकता में जो विश्वास था तथा उस ब्रह्म को समस्त चराचर के कण-कण में व्याप्त मानने की जो धारणा थी, उसकी अभिव्यक्ति उन्होने अनेक आलंकारिक योजनाओं द्वारा की; यथा—

"ज्यों तिल माही तेल है, ज्यों चकमक मह आगि।
तेरा साईं तुज्झ में जागि सके तो जागि।"

और अन्यत्र—'ज्यों पुहुपन में बास'—कहकर उसकी सार्वभौमिकता को बताने का प्रयत्न किया। किन्तु इस तत्त्व को पहचानने के लिए उन्होंने गुरु का स्थान सर्वोच्च स्वीकार किया है। गुरु की कृपा से ही, ईश तत्त्व का 'सोऽहम्'

के सिद्धान्त का—ज्ञान होना सम्भव था। इसलिए महानतम साधन के रूप में गुरु का महत्त्व उन्होंने ईश्वर से भी अधिक स्वीकार किया। गोविन्द को मिलाने वाले गुरु की बलिहारी जाकर उसकी प्रथम वन्दना की बात उठाने में कबीर का यही मन्तव्य प्रकट होता है।

जीव (अंश) उस ब्रह्म (अंशी) से भिन्न होकर स्वयं को क्यों भिन्न समझने लगता है, इसका कारण माया है। उनके विचार में बिना मायाजाल को काटे हम सत्स्वरूप के दर्शन नहीं कर सकते। जिस प्रकार घड़े के जल और नदी के जल को पृथक् करने वाला स्वयं घड़ा है और घड़े के टूटते ही जिस प्रकार पानी में पानी मिल जाता है, उसी प्रकार आत्मा को परमात्मा से अलग करने में माया ही कारण है, जिसके नष्ट होने पर दोनों का एकीकरण सम्भव है। इस माया को—"माया महा ठगिनी हम जानी"—कहकर भ्रमजाल फैलाने वाली माना तथा समस्त संसार के दृश्यमान् जगत् को, नश्वर मानकर उससे विरक्त होने की सम्मति दी। इस प्रकार उन्होंने भारत के प्राचीन सार्वभौमिक दार्शनिक सिद्धान्त को ही अपनी भाषा में जन-जन तक पहुँचाने का स्तुत्य एवं सफल प्रयास किया है।

भाषा—यदि भाषा को हृदयगत भावों से अभिव्यक्त करने का अन्यतम साधन स्वीकार किया जाए, तो निश्चित रूप से इन कवियों की भाषा एक श्रेष्ठ भाषा है। सरलता तथा विषयानुकूलता इस भाषा का प्रमुख गुण है। अधिकांश में इन कवियों में अनपढ़ होने के कारण, यद्यपि इनकी भाषा में साहित्यिक उत्कर्ष का अभाव है, पुनरपि यत्र-तत्र घूमते हुए अनेक स्थानों के शब्दों को एकत्र करने उन्होंने जो भाषा का 'खिचड़ी' रूप उपस्थित किया, वह रोचक तो है ही, साथ ही सरल भी है। अनेक प्रान्तीय भाषाओं के शब्द; पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज, पूर्वी (भोजपुरी) आदि भाषाओं का प्रभाव इनकी भाषा पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है; साथ ही, इस भाषा में न तो श्रीमद्भागवत् जैसी अस्पष्टता ही है और न काव्य-सुलभ वह कल्पना-प्रवणता ही है जो विषय को अस्पष्ट कर देती है।

सन्त कवियों की भाषा पर विचार करते समय यह भी विचार करना चाहिए कि उनका उद्देश्य अपने विचारों को, अपने मन्तव्य को जन-जन तक पहुँचाना था, अतः स्वाभाविक रूप से ही उस भाषा का सरल होना आवश्यक था। व्याकरण तथा काव्यशास्त्र की दृष्टि से, सम्भव है, उनकी यह भाषा

अनेक स्थलों पर दोषपूर्ण प्रतीत हो; पर साथ ही, यह भी सत्य है कि योगशास्त्र के शब्दों का उसी रूप में प्रयोग करने के कारण उसमें क्लिष्टता का भी कहीं कहीं सन्निवेश हो गया है। परन्तु इस पर भी यह सरलता से कहा जा सकता है कि उनकी यह भाषा उनके विचारों की अभिव्यक्ति से सर्वथा उपयुक्त है।

शैली—सन्त कवियों ने काव्य की मुक्तक शैली में अपना मन्तव्य जनता तक पहुँचाया। ये सन्त कवि तानपूरे आदि पर गा-गा कर जनता में अपने विचारों का प्रचार करते थे। अतः उनके पदों में संक्षिप्तता, सरलता तथा गेयता का अपूर्व सम्मिश्रण है। प्रबन्ध-काव्य की रचना उन्होंने नहीं की; क्योंकि, प्रबन्ध काव्य का प्रभाव डालने का न तो इनके पास समय ही था और न यह सम्भव ही था। रूपक-शैली के आधार पर दोहों और पदों में उन्होंने समस्त काव्य रचना की। दोनों को उन्होंने साखी (साक्षी) कहा। उनकी शैली अपने उद्देश्य में और भावों के प्रभावातिक्रमण में पूर्ण सफल हो सकी है।

अलंकार योजना—इन स्वनामधन्य और हृद्गत भावों के स्वाभाविक उद्‌गाता कवियों के काव्य में काव्यशास्त्र के बहुश्रुत अलंकारों का दर्शन स्वाभाविक रूप में किया जा सकता है। सप्रयास उनके सन्निवेश की न तो कहीं चेष्टा ही की गई है और न उनकी आवश्यकता ही थी। पुनरपि, अनेक अलंकारों की योजना स्वाभाविकतः सम्भव हो सकी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अन्योक्ति इनके प्रिय और सिद्ध अलंकार हैं। इनमें भी रूपक का प्रयोग सर्वाधिक किया गया है। कबीर का एक प्रसिद्ध रूपक है—'झीनीं-झीनीं बीनी चदरिया।' इसी प्रकार अन्य कलाकारों का भी प्रयोग विषय को स्पष्ट और प्रभाव को मार्मिक बनाने की दृष्टि से किया गया है।

छन्द-योजना—सन्त कवियों को छन्दशास्त्र का शास्त्रीय ज्ञान नहीं था, अतः छन्द-वैविध्य का दर्शन इनके काव्य में नहीं मिलता। एकमात्र दोहा छन्द के धनी इन कवियों का साहित्य अनेक स्थलों पर शास्त्रीय नियमों के आधार पर त्रुटिपूर्ण है। दोहों के अतिरिक्त इनका कुछ साहित्य स्वतन्त्र तथा गेय पदों में भी प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि इन फक्कड़ और मस्त, दीन-दुनिया की चिन्ता से मुक्त सन्त कवियों का साहित्य अपने मूल रूप में जनता का साहित्य है। उसमें अस्वाभाविक काट-छाँट का अभाव है जिससे एक ओर जहाँ इसका रूप निखरा है वहाँ दूसरी ओर प्रभाव के क्षेत्र में भी इसे

अद्भुत सफलता मिली है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि इन संत कवियों का यह साहित्य उस शान्त स्निग्ध ज्योत्स्ना से प्रभावित गगनांगण तुल्य है, जिसमें अपनी विशालता है और जो आडम्बरों के मेघों से शून्य है।

प्रश्न ५—'सूफी काव्य' की साहित्यिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

हिन्दू-मुस्लिम एकता का जो प्रयास सन्तकवियों ने अपनी अटपटी वाणी में हिन्दू और मुस्लिम—दोनों ही वर्णों को फटकार कर किया था, उससे भी अधिक प्रभावोत्पादक प्रयास प्रेममार्गी शाखा के सूफी कवियों का रहा। प्रेम की पीर के धनी ये कवि अपनी प्रेमकथाओं के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार करते थे। उन्होंने अपनी सभी कहानियाँ हिन्दुओं के घरों की प्रचलित प्रेम कहानियों से लीं और हिन्दुओं के लोकाचार के प्रति भी वही समान आदर का भाव प्रकट किया। इस शाखा के सब कवि मुसलमान ही थे और उन्होंने फारसी लिपि में ही अपने काव्यों का प्रणयन किया। इससे उनका प्रभाव हिन्दुओं पर भी विशेष रूप से पड़ा और हिन्दू जनता में भी उनका विशेष समादर हो सका। दूसरा कारण यह रहा कि सन्त कवियों वाला खण्डनात्मक कर्कश स्वर इनका नहीं था; अपितु उन्होंने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पद्धति द्वारा काव्यानुशीलन किया; ये कवि मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय-पक्ष से अधिक काम लेते थे। अतः स्वाभाविक रूप से ही उनका काव्य हृदय को अधिक प्रभावित कर सका। इन कवियों में कुतुवन, मंझन, जायसी और उसमान आदि प्रमुख हैं तथा मृगावती, मधुमालती, पद्मावत और चित्रावती आदि उनके अमर काव्य-ग्रन्थ हैं। संक्षिप्ततः इस शाखा के अध्ययनोपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष स्वरूप विवेचन प्राप्त किया जा सकता है—

प्रतिपाद्य विषय—लौकिक प्रेम चित्रण के द्वारा अलौकिक प्रेम का निरूपण, करना ही इन सूफी कवियों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है। हिन्दुओं के घरों में प्रचलित प्रेमकथाओं को अपनी शैली में लिखकर अन्त में उसके द्वारा अलौकिक या आत्मिक प्रेम की व्यंजना करने में इन कवियों को अद्भुत सफलता प्राप्त हो सकी है। हिन्दुओं के देवी-देवताओं के प्रति भी समादर भाव प्रकट करके इन्होंने अपनी उदारशयता और दृष्टिकोण की व्यापकता का परिचय दिया है।

रस योजना—प्रेममार्गी कवियों के काव्य का मुख्य रस शृंगार है। शृंगार के दोनों ही पक्षों का अर्थात् संयोग और वियोग का यद्यपि सफल चित्रण इनके द्वारा किया गया है; पुनरपि, वियोग-पक्ष के वर्णन में इनकी आत्मा कुछ विशेष

रम सकी है। कविवर जायसी द्वारा अपने प्रसिद्ध काव्य 'पद्मावत' में किया गया नागमती का विरह-वर्णन तो इतना सुन्दर बन पड़ा है कि एकमत से हिन्दी-साहित्य की 'एक श्रेष्ठ निधि' समझा जाता है। 'आधी रात विहंगम बोला' कहकर उन्होंने पशु पक्षियों तक में नागमती के प्रति जो सहानुभूति का परिचय दिया है, वह सहृदय लोगों के समझने की वस्तु है। इनके विरह-वर्णन की यह महती विशेषता है कि रीतिकाल वाली ऊहात्मक पद्धति का उसमें सर्वथा अभाव है तथा पूर्ण हृदय से हृद्गत दशा का चित्र खींचा गया है, अतएव वह विशेष मार्मिक है। शृंगार रस के अतिरिक्त वीर रस के चित्रण में भी ये कवि सफल रहे हैं। जायसीकृत गोरा-बादल की वीरता के प्रसंग में हमें सजीव वीररस के दर्शन होते हैं। युद्ध-वर्णन के अन्तर्गत ही करुण, रौद्र, भयानक तथा आदि रसों की हल्की-सी अवतारणा की गई है परन्तु इन सबके होने पर भी इन कवियों का सर्वप्रिय रस 'विप्रलम्भ शृंगार' है, यह निर्विवाद कहा जा सकता है।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—पात्र तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सूफी कवियों का काव्य इस विविधता तथा सजीवता को लेकर नहीं चलता, जिससे पात्रों की मार्मिकता बढ़ जाती है। प्राय: इनके सभी नायक राजकुमार हैं और नायिकाएँ राजकुमारी; जो अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं को झेलते हुए प्रेम के पथ पर आगे बढ़ते हैं। इनमें क्रिया व्यापार सम्बन्धी अथवा चरित्र सम्बन्धी वैविध्य के दर्शन नहीं होते। वियोग की दशा में किया गया पात्रों का चरित्र चित्रण बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है। कवि की स्वतन्त्र कल्पना से अनुरंजित ऐतिहासिक पात्रों तक का रूप उनके इतिहास-सम्मत रूप से कुछ भिन्न-सा हो उठा है। दु:ख-सुख तथा जीवन के उतार-चढ़ाव का चित्रण पात्रों के बाह्य रूप के आधार पर किया गया है और उसमें सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्राय: अभाव है।

प्रकृति-चित्रण—सूफी कवियों ने प्रकृति का वर्णन आलंकारिक अथवा उद्दीपनात्मक रूप मात्र की दृष्टि से किया है। प्रकृति से तदाकार होकर तटस्थ भाग से उसके चित्रण की प्रवृत्ति का इनके काव्य में प्राय: अभाव ही है। वन उपवन, तड़ाग, सरोवर तथा बारहमासा आदि का जो कुछ वर्णन इनकी रचनाओं में प्राप्त होता है, वह एकमात्र नायक-नायिका के रस-विशेष से उद्दीपन रूप में है अथवा कथन को प्रभावशाली बनाने के लिये आलंकारिक रूप

में। प्रकृति का यह चित्रण इन प्रेममार्गी कवियों के हृदय-पक्ष का सीधा स्पर्श न पा सका, यह तथ्य इस शाखा के प्रकृत-चित्रण के अध्ययनोपरान्त सहज ही सामने आ जाता है।

दार्शनिकता—सूफी कवियों के दार्शनिक विचार, भारतीय, इस्लामी एवं सूफी पद्धतियों का सम्मिलित रूप उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार भी जीवन और ब्रह्म अभिन्न हैं और इन दोनों में भेद उत्पन्न करने का कार्य शैतान करता है इनके इस शैतान का रूप लगभग ज्ञानमार्गी सन्तों के माया के जैसा ही है। परन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में तात्विक अन्तर यह है कि उधर जहाँ जीव माया के बन्धन से मुक्त होकर पुनः उसके बन्धन में नहीं फँसता वहाँ इनके अनुसार शैतान से मुक्त होने पर भी पुनः उनके पंजे में फँसने की आशंका बनी रहती है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए गुरु का इनके यहाँ भी महत्वपूर्ण स्थान है। 'पद्मावत' में 'गुरु सुआ जेहि पन्थ दिखावा, बिनु गुरु ज्ञान को निरगुन पावा' कहकर गुरु के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।

इन सारे कवियों की दार्शनिक विचारधारा एक ओर जहाँ उपनिषद् के प्रतिबिम्बवाद एवं शंकर के अद्वैतवाद का स्पर्श करती है, वहाँ दूसरी ओर उसका स्पर्श सूफी विचारों से भी होता है, जिसके अनुसार 'इश्क-ए-हकीकी' के लिए 'इश्क-ए-मिजाजी' की प्रथम आवश्यकता पड़ती है। इसके साथ ही भारतीय पद्धति में जहाँ ईश्वर को पुरुष एवं आत्मा को स्त्री का रूपक दिया गया है और उस आत्मा को ईश्वर को पाने के लिए लालायित बताया गया है, वहाँ सूफी काव्य में आत्मा को पुरुष तथा ईश्वर को स्त्री मानकर उसे ईश्वर को आत्मा के सान्निध्य के लिए प्रयत्नशील दिखाया गया है। इस प्रकार से सूफी कवियों का यह दार्शनिक रहस्यवाद कुछ नएपन के साथ इनके काव्य में अवतरित हुआ है। ईश्वर को पाने के लिए प्रयत्नशील साधक को शरीयत, तरीकत, हकीकत एवं मारिफत नाम की चार अवस्थाओं में से गुजरना आवश्यक बताकर इनके महत्त्व को भी प्रतिपादित किया गया है।

भाषा—सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की भाषा अवधी है। कारण कि इनका प्रधान क्षेत्र अवध था। फिर भी, वह कुछ कवियों के काव्य में ब्रजभाषा एवं कुछों के काव्य में भोजपुरी से प्रभावित है। इस शाखा में सबसे अधिक समर्थ कवि जायसी में अवधी भाषा के मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी प्रयोग मिलता है। इन कवियों की अवधी ग्रामीण अवधी है और स्पष्ट रूप से यह अवधी के

उस साहित्यिक रूप से अलग की जा सकती है जिसमें तुलसीदास ने अपने 'राम-चरितमानस' की रचना की।

शैली—सूफी कवियों ने अपने सूफी काव्यों की रचना फारसी की मसनवी शैली के आधार पर की है। प्रारम्भ में ईश्वर-वन्दना एवं तत्कालीन शासक (शाहेवख्त) की प्रशंसा और मोहम्मद की वन्दना आदि सभी कवियों के काव्य में एक समान ही प्राप्त होती है। इन मुसलमान कवियों ने कहीं भी भारतीय चरित्र-पद्धति को नहीं अपनाया है। प्रकरण आदि के नाम तद्गत घटना के आधार पर रखे गए हैं।

कथावस्तु की समानता तथा एकरूपता के कारण इनकी शैली वैविध्य के गुण से शून्य होकर कहीं-कहीं नीरस-सी बन गई है। राजकुमार और राजकुमारियों का परस्पर प्रणयदान एवं मार्ग की अनेक कठिनाइयों का प्रायः सभी कवियों ने एक समान ही वर्णन किया है, जिससे शैली की सजीवता तथा रोचकता को पर्याप्त ठेस लगी है।

छन्द योजना—प्रेममार्गी कवियों ने दोहा और चौपाई आदि छन्दों का ही प्रयोग किया है। जिनके आयोजन का कोई विशेष नियम नहीं अपनाया है। कहीं-कहीं सोरठा-छन्द का प्रयोग भी मिलता है। इनका छन्द शास्त्रीय ज्ञान अत्यल्प था। अतएव दोहे एवं चौपाइयों तक की मात्राओं का अशुद्ध प्रयोग इनके काव्यों में मिलता है। कविवर जायसी तक के काव्य में यह दोष प्रचुरता से पाया जाता है।

अलंकार-योजना—काव्य सौन्दर्य को बढ़ाने की दृष्टि से किया गया इन कवियों द्वारा अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में पाण्डित्य-प्रदर्शन वाली पद्धति का उसमें सर्वथा अभाव है। कहीं-कहीं इन पर फारसी का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है, जो इनके लिए स्वाभाविक है। समासोक्ति इनका सर्वप्रिय अलंकार है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा इन कवियों के अन्य प्रिय अलंकारों में से हैं। स्वाभावोक्ति, अन्योक्ति तथा रूपकातिशयोक्ति आदि का भी इनमें सुन्दर प्रयोग मिलता है। भाव यह है कि इन कवियों ने अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के लिए अनेक अलंकारों का सफल प्रयोग किया है। अतएव इसके प्रयोग से उनके काव्य की मार्मिकता अत्यधिक बढ़ गई है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूफी-काव्य-परम्परा के इन मुसलमान

कवियों ने अपनी अनोखी सूझ-बूझ एवं अपने हृदय की अद्भुत मार्मिकता के साथ पूर्ण तल्लीन होकर काव्य की रचना की है और ईश्वर की प्राप्ति का उनका यह एक अत्यन्त सरल प्रयोग सिद्ध हुआ है। जाति की संकीर्णता को छोड़कर अलौकिक काव्य के माध्यम से यह हिन्दुओं की ओर किस प्रकार आकृष्ट हुए और उन्होंने उन्हें अपनी ओर किस प्रकार आकृष्ट किया, यह स्वयं में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है, जिस पर इनके काव्य की सफलता आधारित है।

प्रश्न ६—'रामकाव्य' का साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन कीजिए।

हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन भक्तिकाल में निर्गुण एवं सगुण नाम से भक्ति की जो दो भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ विकसित हुई, उनमें निर्गुण पद्धति अपनी गहन जटिलता एवं जनसाधारण के लिए अगम्यता के कारण न तो उतनी अधिक लोकप्रिय ही हो सकी और न उतनी अधिक स्थायी ही बन सकी; जितनी कि अपनी लोकरंजनी वृत्ति के द्वारा सगुण भक्ति-पद्धति सिद्ध हो सकी। **'रूप रेख गुन जाति जुगति विनु निरालम्ब मन चकृत धावै'** आदि के द्वारा **'अविगत गति कुछ कहत न आवै'** की बात की पुष्टि इन सगुण शाखा के कवियों ने साकार ईश्वरोपासना के द्वारा की। जब सूर यह कहते हैं—**'सब विधि अगम विचार ताहि पुनि सूर अगम लीला पद गावै'** तो मानो सगुण भक्ति का स्वर ही बोल उठता है। सगुण भक्ति के प्रचार का श्रेय श्री रामानुजाचार्य, रामानन्द एवं वल्लभाचार्य आदि को ही है। इस सगुण भक्ति में भी साकार ईश्वर को राम तथा कृष्ण—दो रूपों में देखा गया—महाप्रभु वल्लभाचार्य ने जहाँ कृष्ण की उपासना का प्रचार किया, वहाँ रामानन्द द्वारा रामभक्ति का विकास हुआ। रामभक्ति अपने मर्यादित दृष्टिकोण का विस्तृत क्षेत्र के कारण अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकी। कृष्णभक्ति का रूप आगे चलकर जहाँ कुत्सित कर दिया एवं कृष्ण और राधा को साधारण नायक तथा नायिका मान लिया गया, वहाँ राम का मर्यादापूर्ण रूप नितान्त शुद्ध रहा। इस रामकाव्य-परम्परा में तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास और बाबा रघुनाथ आदि के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं, परन्तु इस समस्त काव्य-परम्परा का महत्त्व जिन पर टिका हुआ एवं जो इस शाखा के कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा प्रभावक हैं, वे हैं—गोस्वामी तुलसीदासजी। तुलसीदास जी की काव्य-प्रतिभा का जो रूप हमें देखने को मिलता है, वह उनके 'स्वान्तः

सुखाय,' काव्य को 'परजनहिताय' बनाने में सहाय
पर मुग्ध होकर कविवर हरिऔधजी का यह कहन
करिके तुलसी न लसैं, कविता लसी पा तुलसी की
के अनुशीलनोपरान्त इनकी साहित्यिक विशेषता
किया जा सकता है—

रस-योजना—रामभक्ति शाखा के कवियों ने
अपने काव्य का विषय बनाया, अतः सभी रसों
उसमें सम्भव हो सका है। राम की कथा में उन्हें
सुलभ था। शृंगार, करुण, वीर, रौद्र और भया
भगवान् राम के चरित्र में स्पष्ट हो सका है, अन्य
संहार के समय इन रसों की व्यंजना की गई है।
कवियों का अपना रूप है। शिष्ट एवं मर्यादित
अवतारणा इन कवियों द्वारा सम्भव हो सकी,
मिलती। संयोग-शृंगार वर्णन को भी जितनी शिष्ट
किया वह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

कहने का तात्पर्य यह है कि रस-योजना की
एक श्रेष्ठ काव्य-परम्परा कही जा सकती है और
मर्यादित तथा शिष्टतापूर्ण चित्रण इसकी अपनी म

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—राम-काव्य-परम्पर
की कामना से विश्व में श्रेष्ठ आदर्शों की स्थापना
विजय दिखलाना है और इस दृष्टि से ही उन्होंने
उनके चरित्र का विकास किया है। एक ओर जह
भगवान् रामचन्द्र, भरत और सीता आदि के चरि
वहाँ दूसरी ओर उसी लगन से रावण, मेघनाद अ
चित्र खींचा। किन्तु इतना स्पष्ट है कि असत्-पात्र
के चरित्र के विकास की पृष्ठभूमि के रूप में ही वि
प्रकार सद्गुणों से परास्त कर दिया जाता है, इस
लिए ही उन्हें सत् एवं असत् पात्रों का समाश्रय
ही कोटि के पात्रों का चित्रण उन्होंने इस प्रकार से

सत्पात्रों का प्रभाव अतिशय रूप में पड़ता है तथा असत् पात्रों से उनके हृदय में घृणा उत्पन्न हो जाती है।

राम-काव्य परम्परा के प्रत्येक पात्र से उन्होंने एक आदर्श की स्थापना की है, एक-एक पात्र एक-एक आदर्श के प्रतीक रूप में ही ग्रहण किया गया है। राम एक श्रेष्ठ एवं आदर्श पुत्र तथा राजा; भरत आदर्श भाई; सीता आदर्श पत्नी; हनुमान आदर्श सेवक तथा विभीषण को आदर्श भक्त के रूप में सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है और इसके चारित्रिक गुणों एवं प्रकर्ष का सबसे बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि ये सब उन गुणों के उपमान बन कर रह गये हैं।

प्रकृति-चित्रण—इस रामकाव्य परम्परा के कवियों ने प्रकृति का चित्रण उद्दीपन, अलंकरण तथा उपदेश-प्रणाली के रूप में किया है। प्रकृति को आलम्बन मानकर जो कुछ प्रकृति चित्रण इन कवियों का प्राप्त होता है, वह अपेक्षाकृत कम होने पर भी बहुत मार्मिक और सुन्दर बन पड़ा है। प्रकृति को विरह के उद्दीपन के रूप में ग्रहण करते हुए सीता के विरह में राम कह उठते हैं—

'घन घमण्ड गरजत नभ घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥'

किन्तु इतना कहते ही अलंकार तथा उपदेश प्रणाली प्रधान हो उठती है। आगे वर्षा का ही वर्णन वे इसी रूप में करते हैं—

'बरसहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥'

और इनकी प्रणाली भावों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुई है। कहीं-कहीं प्रकृति द्वारा उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों की भी अभिव्यक्ति की है; यथा—वर्षा-वर्णन के ही प्रसंग में—

'भूमि परत भा डाबर पानी। जनु जीवहि माया लिपटानी॥'

भक्ति-भावना—सगुणोपासक राम-काव्य धारा के ये कवि भगवान् रामचन्द्र को अपना इष्टदेव मानकर चले हैं और 'तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष-बाण लो हाथ' के रूप में तो मानो उनकी एकनिष्ठता को जनसमाज चिरकाल से स्वीकार करता आया है। उनके अनुसार, भगवान् राम ही उस परमेश्वर के साक्षात् अवतार हैं और वे 'भगत हेत नाना विधि करत चरित्र अनूप' के रूप में अवतरित हुए हैं। उनके परमेश्वर-रूप को स्पष्ट रूप से तुलसीदास इस प्रकार स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं—

'निगम नेति सिव अन्त न पावा। तहि वरै जननि उठि धावा ॥'

दार्शनिक दृष्टिकोण से ये कवि जीव को भी ईश्वर का अंश स्वीकार करते हैं—'ईश्वर अंश जीव अविनासी' और इस रूप में वे विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित हैं। रामभक्ति में उनका सेवक-सेव्य भाव प्रकट होता है, जहाँ वे दोनों के बीच के अन्तर को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

'राम सो बड़ो है कौन मोसौ कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन मोसौ कौन खोटो ॥'

इस रूप में राम से उनकी यही प्रार्थना है कि—

'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।'

इस प्रकार इनकी भक्ति-पद्धति मे आत्मनिवेदन का सुन्दर रूप निखर उठा है।

समन्वय-भावना—राम काव्य-परम्परा के कवि समन्वय के स्वर से लोक मंगल की कामना से काव्य-रचना करने वाले थे। अतः उनके काव्य में काव्यात्मक दार्शनिक तथा सामाजिक-समन्वय भावना के दर्शन होते हैं। तत्कालीन समाज में धर्म एवं मत के नाम पर पाखण्ड हो रहे थे, उसका उन्होंने खण्डात्मक स्वर में नहीं अपितु समन्वय की भावना के उदात्त स्वर में विरोध किया। शैव, वैष्णव और शाक्त आदि के मतभेदों को शमन करने का उनका प्रयास सफल सिद्ध हुआ है। शैव-वैष्णवों के विद्रोह को भगवान् रामचन्द्र के मुख द्वारा कहलवा कर समाप्त कर दिया—

'शिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर मोहि सपनेहुँ नहि भावा ॥'

इसी प्रकार दार्शनिक दृष्टिकोण से उन्होंने ज्ञान, भक्ति एवं कर्म के बीच में भी समन्वय की स्थापना की। ईश्वर के सगुण एवं निर्गुण—दोनों ही रूपों को स्वीकार करते हुए इस सम्बन्ध में भी उन्होंने उदार दृष्टिकोण से काम लिया। संक्षेप में, उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से श्रेष्ठ समन्वय की साधना की।

भाषा—इन कवियों ने अपने काव्य में ब्रज तथा अवधी दोनों ही भाषाओं का सफलता से प्रयोग किया है। उनकी यह अवधी तथा ब्रजभाषा अपने साहित्यिक रूप में अवतरित हुई। जायसी की अवधी में तथा तुलसीदास की अवधी में स्पष्ट रूप से ग्रामीण अवधी तथा साहित्यिक अवधी का रूप देखा जा सकता है। इसके साथ ही, कहीं भी उनकी भाषा अपरिष्कृत तथा असाधारण

बनकर अनावश्यक रूप से केशव के समान क्लिष्ट नहीं बन पायी है। भाषा का स्वाभाविक सौन्दर्य उसमें प्राप्त है और सबसे बड़ी विशेषता उसकी रसानुकूलता है। देखिए, श्रृंगार के अनुकूल भाषा का रूप इस प्रकार है—

'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥"

इसी प्रकार वीर रस वीरोचित गम्भीर शब्दों का सन्निवेश किया गया है। इसके साथ ही, भाषा में स्वाभाविक मुहावरों आदि का प्रयोग करके उसे प्रभावपूर्ण बना दिया गया है। अनेक स्थलों पर भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी, फारसी तथा अरबी आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी इनकी भाषा में मिलता है, परन्तु वे शब्द तो इतने अधिक प्रचलित हैं कि काव्य में कोई खास कठिनता उत्पन्न नहीं हो पाती।

शैली—भिन्न-भिन्न काव्यगत शैलियों का प्रयोग इन कवियों ने अपने काव्य-निर्माण में किया। इस शाखा के सबसे अधिक समर्थ कवि तुलसीदासजी ने अपने काव्य में शैली-वैविध्य को स्थान दिया। उनका 'रामचरितमानस' जहाँ प्रबन्ध काव्य की शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है, वहाँ 'गीतावली' में गीत शैली तथा 'कवितावली' में वीर-काव्य की सवैया और छप्पय वाली शैली का समर्थ प्रयोग हुआ है। 'दोहावली' में कबीर सदृश्य दोहा-पद्धति को अपनाया गया है।

छन्द-योजना—छन्द-योजना की दृष्टि से भी यह परम्परा समृद्ध परम्परा है। रसानुकूल छन्दों की रचना इस शाखा के कवियों का एक समादृत गुण है। प्रायः सभी प्रचलित छन्दों का प्रयोग इन कवियों ने बड़ी सफलता से किया है। दोहा, चौपाई, वीरगाथा-काव्य के छप्पय, सवैया, कुण्डलिया और सोरठा आदि सभी छन्दों के प्रयोग से उन्होंने अपने काव्य को प्राणवान् किया है। इसके साथ ही, इनके छन्द मात्रा आदि के दोष से सर्वथा मुक्त हैं।

अलङ्कार-योजना—इन कवियों के द्वारा जहाँ विभिन्न छन्दों का प्रयोग बड़ी सफलता से किया गया, वहाँ विभिन्न अलङ्कारों के प्रयोग में वे पर्याप्त कुशल हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, प्रतीप, सन्देह एवं परिसंख्या आदि समृद्ध अलंकारों का स्वाभाविक तथा काव्य के मुख्य तत्त्व रस का पोषक स्वरूप काव्य में देखने को मिलता है। अनुप्रास नामक शब्दालंकार का भी बड़ा ही स्वाभाविक तथा रसानुकूल प्रयोग इनके काव्य में मिलता है। सांगरूपक नामक अर्थालंकार तो तुलसी का अत्यन्त प्रसिद्ध और सिद्ध अलङ्कार है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि रामकाव्य-परम्परा के कवियों द्वारा रचित काव्य उनकी अन्तःप्रेरणा से अनुप्राणित काव्य है। अतएव उसमें एक ओर जहाँ कृत्रिमता का अभाव है, वहाँ दूसरी ओर उसमें अद्भुत मार्मिकता एवं प्रभावोत्पादकता भी विद्यमान है। काव्य के 'सत्यं शिवं सुन्दरं' रूप की भव्यतम झाँकी का यह काव्य एक अत्यन्त श्रेष्ठ उदाहरण है।

प्रश्न ७—'कृष्ण-काव्य' की साहित्यिक विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

मुसलमानों से संघर्ष करते-करते जब हिन्दुओं ने अपने पारस्परिक वैमनस्य एवं एकता आदि के अभाव के कारण, स्वयं को असमर्थ पाया, तभी से इस लौकिक कार्य-व्यवहार की ओर से उपेक्षा करके मानो सब कोई ईश्वर की ओर उन्मुख हो गये। लेकिन विजेता मुसलमान वर्ग भी शान्त होकर उनकी साधना को देखता ही नहीं रहा, अपितु तब उसने भी अपनी चित्तवृत्ति को ईश्वर की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया और इस भक्तिकाल में अनेक मुसलमान सन्तों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। कालान्तर में एक ही भूमि पर रहते हुए हिन्दुओं और मुसलमानों ने पारस्परिक स्नेह का सूत्रपात प्रारम्भ कर दिया और इस सम्बन्ध में भक्तिकाल के निर्गुण मार्ग के साधकों, कबीर और जायसी आदि ने भिन्न-भिन्न स्वर से महत्त्वपूर्ण कार्य किया। किन्तु जन-साधारण पर उनका अपेक्षित प्रभाव न पड़ सका; क्योंकि एक ओर जहाँ निर्गुण मार्ग उनकी समझ से बाहर की वस्तु थी, वहीं सूफी कवियों के सूफी सिद्धान्तों के प्रति भी वे शंकित थे। इस अशान्त वातावरण को सगुणोपासक कवियों ने एक बड़ी सीमा तक दूर करने का सफल प्रयत्न किया और इनमें भी अपनी सरस अभिव्यक्ति के द्वारा कृष्ण काव्य की परम्परा के कवियों को अधिक सफलता मिली और इस भक्ति पद्धति का प्रचार दक्षिण से आकर उत्तर भारत में सन्त कवियों द्वारा किया गया। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने तो मानो तृषित जन-समाज के सामने कृष्ण-भक्ति की सुधा का सागर ही उपस्थित कर दिया। कालान्तर में इस पद्धति का समुचित विकास हुआ। महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इस परम्परा को काफी समृद्ध बनाया। इस परम्परा के आठ प्रसिद्ध कवि इस प्रकार हैं—(१) सूरदास, (२) नन्ददास, (३) कुम्भनदास, (४) कृष्णदास, (५) परमानन्ददास, (६) चतुर्भुजदास, (७) छीतस्वामी, तथा (८) गोविन्द स्वामी। ये ही स्वनामधन्य 'अष्टछाप' के कवि

भी कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध कवियों में हैं—हितहरिवंश, मीरांबाई एवं रसखान। रसखान मुसलमान होते हुए भी कृष्ण के महान् उपासक, भक्त एवं कवि थे। इनके समान ही मुसलमान भक्तों की प्रशंसा में भारतेन्दुजी का कथन है—**'इन मुसलमान हरिजनन पै, कोटिन हिन्दुन वारिए।'** इस काव्य-परम्परा के कवियों के काव्य का साहित्यिक अनुशीलन निम्नलिखित प्रकार से उपस्थित किया जा सकता है—

प्रतिपाद्य विषय—कृष्ण-काव्य-परम्परा के कवियों का मुख्य उद्देश्य कृष्ण की लीलाओं का चित्रण करना ही रहा है। **'सूर सगुन, लीला पद गावै'**, कहकर इन लीलापदों के गाने की ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है। कृष्णलीला में भी केवल उनके बाल एवं किशोर रूप को ही प्रधानता दी गई है। बाल्यकाल का उनके द्वारा किया गया वर्णन तो हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है तथा इसी हेतु सूरदासजी को निर्विवाद रूप से **'वात्सल्य रस का सम्राट'** भी कहा जाता है। कृष्ण के मुख्य रूप से तीन भागों की प्रधानता उनके काव्य में दृष्टिगोचर होती है। वात्सल्य के अन्तर्गत उनकी बाल सुलभ क्रीड़ाएँ वर्णित हैं, संख्य के अन्तर्गत ग्वालों के साथ उनका रूप दिखाया गया है तथा माधुर्य के अन्तर्गत गोपियों से उनका स्नेह-प्रसंग उद्धृत है। कृष्ण के रूप की माधुरी का अतिशय प्रभाव उनके इन तीनों ही रूपों पर पड़ता है। कृष्ण के लोककल्याण के भाव का निरूपण ये उतनी ही शक्ति से नहीं कर सके, जितना कि लोकरंजक रूप का निरूपण। इसके मूल में उनकी भावना-पद्धति ही कारण रही है।

रस-योजना—इन कवियों के मुख्य एवं प्रिय रस वात्सल्य, शृंगार तथा परोक्ष रूप से शान्त हैं। वात्सल्य रस में सूरदास सम्राट के आदरपूर्ण पद को प्राप्त करते हैं। बालक श्रीकृष्ण की चेष्टाओं का जितना सुन्दर एवं मनोहारी चित्रण मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर सूर ने किया है, वह अवलोकनीय है। **''मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी'** में बालसुलभ स्पर्द्धा भाव तथा **'मैया मैं गाय चरावन जैहौं'** में बालसुलभ उत्सुकता का भाव बड़ा ही सुन्दर बन पाया है। **'सोभित कर नवनीत लिए'** बाल कृष्ण का सजीव चित्रण करते समय सूरदास विभोर हो उठते हैं। वात्सल्य के अतिरिक्त शृंगार रस संयोग एवं विप्रलम्भ दोनों पक्षों का सफल चित्रण प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त जगत् का, माया आदि का खण्डन करके—**'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल'** आदि स्थलों में इन कवियों द्वारा शान्त रस की सुन्दर व्यंजना की गई है।

प्रकृति-चित्रण—कृष्ण-भक्त कवियों का प्रकृति-चित्रण भी स्वतन्त्र रूप में सम्भव न हो सका है। यह आलंकारिक तथा उद्दीपनात्मक रूप में ही मिलता है। जैसे 'बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें' कहकर प्रकृति का उद्दीपक रूप प्रस्तुत किया गया है, वह अत्यन्त सजीव एवं सुन्दर बन पड़ा है। यह सत्य है कि उन्होंने प्रकृति के लगभग सभी उपादानों; यथा—नदी, पर्वत, वन और अन्तरिक्ष आदि का चित्रण मार्मिकता से किया है, परन्तु इन सबसे उनका प्रभाव पात्र विशेष की तत्कालीन स्थिति पर कैसा पड़ता है, इसकी ओर इन कवियों का विशेष ध्यान है। अतः इन उपादानों के स्वतन्त्र चित्रण का उनमें अभाव है।

भक्ति-भावना—एकमात्र कृष्ण-भक्ति को अपना मुख्य उद्देश्य निर्धारित करके इस काव्यधारा के सभी कवियों ने अपने-अपने काव्यों की रचना की है। कृष्ण को उन्होंने उपास्य, सखा और कन्त के रूप में चित्रित करके तदनुकूल उनका चित्रण किया है। इसके साथ ही, कहीं-कहीं दास्य-भावना की भक्ति-पद्धति का भी रूप मिलता है, जहाँ कृष्ण और भक्त का चित्रण स्वामी और सेवक के रूप में किया गया है।

दार्शनिकता—कृष्ण काव्य-परम्परा के ये कवि-मूलतः भक्त थे। अतः न तो उनका उद्देश्य किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन अथवा खण्डन करना है और न वे किसी दर्शन-विशेष से प्रभावित ही प्रतीत होते हैं। अतएव स्वाभाविक रूप से वे कृष्ण के चरणों का सान्निध्य पाने को लालायित रहते हैं और इसी मध्य प्रसंगवश माया, मोह और भवजाल आदि का हल्का-सा वर्णन उन्होंने कर दिया है। परन्तु इस शाखा के एक समर्थ आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति को स्पष्ट दार्शनिक रूप देने का सफल प्रयास किया है। एक रूपक के अनुसार, उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म तथा गोपिकाओं को मुक्त आत्माओं के रूप में चित्रित किया है। किन्तु कृष्ण काव्य-परम्परा के अन्य कवि इस दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं हुए प्रतीत होते तथा स्वतन्त्र रूप से कृष्ण की लीलाओं का गान करना ही एकमात्र उद्देश्य निश्चित करते हैं।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—रामकाव्य-परम्परा वाला पात्रों एवं चरित्रों का वैविध्य इन कृष्ण-भक्त कवियों में हमें प्राप्त नहीं होता। इसका मुख्य कारण यह है कि रामभक्ति के कवियों ने जहाँ भगवान् रामचन्द्र के सम्पूर्ण जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया, वहाँ कृष्ण भक्ति शाखा के ये कवि कृष्ण के समग्र

रूप को न लेकर मात्र उनके बाल तथा किशोर रूप के चित्रण तक ही सीमित रहे। अतएव कृष्ण का भी केवल यशोदा-पुत्र तथा ग्वाल-सखा का रूप ही हमारे सामने आ पाता है। महाभारत के नीतिज्ञ तथा रण-चतुर कृष्ण का रूप इन कवियों ने चित्रित नहीं किया। यशोदा और नन्द के द्वारा सुन्दर वत्सल प्रेम की भावना का स्पष्टीकरण किया गया है तथा गोप एवं गोपियों की अवतारणा से कृष्ण का सखा-रूप बड़ी तत्परता से चित्रित किया है। इस प्रकार गिने-चुने पात्रों का सीमित क्षेत्र से चरित्र-चित्रण ही इन कवियों द्वारा सम्भव हो सका। परन्तु सीमित एवं अल्प होने पर भी उसमें अभूतपूर्व मार्मिकता के दर्शन होते हैं।

भाषा—कृष्ण भक्त कवियों की भाषा ब्रजभाषा है, जो इनके हाथों में पड़कर मानो और भी अधिक प्राणवान हो उठी है। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह की ओर इनकी विशेष दृष्टि है और इस तरह कहीं-कहीं उसमें खड़ी-बोली, राजस्थानी और पूर्वी आदि प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी आ गये हैं। कुछ स्थलों पर व्याकरण की भूलें भी मिलती हैं, परन्तु भाषा का मुख्य उद्देश्य भावों की गहनता का इसमें सर्वथा सन्निवेश है। अतः वह काव्य-गुणों से युक्त समर्थ भाषा है।

शैली—कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने अपने काव्य की रचना मुक्तक अथवा गीति शैली में की है। इन कवियों में प्रबन्धकाव्य की शैली का अभाव प्राप्त होता है। शायद इसका कारण यह है कि कृष्णलीला को ये भक्त कवि गा-गा कर सुनाया करते थे। अतः प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से ऐसी स्थिति में मुक्तक गीति शैली ही सफल सिद्ध होती है; क्योंकि, प्रबन्ध-शैली की पूर्वापरता का ध्यान रखना वहाँ अनिवार्य नहीं होता। नन्ददास के भँवरगीत, रुक्मिनी-मंगल तथा रामपंचाध्यायी,-हितवृन्दावनदास के 'लाड़ सागर' तथा विलासदास के 'ब्रजविलास' में प्रबन्ध-शैली के कुछ तत्त्व प्राप्त होते हैं किन्तु वे मुख्य नहीं हैं।

गीति-तत्त्व की दृष्टि से भी इनका काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। गीतिकाव्य के आवश्यक तत्त्व वैयक्तिकता, संक्षिप्तता, संगीतात्मकता तथा अभिव्यंजना आदि इनके काव्य में प्रचुरता से विद्यमान हैं। इनका यह गीतिकाव्य अभि-व्यंजना की दृष्टि से तो नितान्त सफल कहा जा सकता है। भाषा की लाक्ष-णिकता के माध्यम से शैली को कहीं-कहीं अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण बना दिया गया है।

उद्धव-गोपी संवाद में इस प्रकार की व्यंग्य शैली के दर्शन होते हैं। विरह-वर्णन में शैली के अत्यन्त गम्भीर तथा भावुक रूप को अपनाकर विषय को अद्भुत रूप से स्पष्ट किया गया है।

छन्द—भावना-प्रधान काव्य होने के कारण कृष्ण-परम्परा का यह काव्य मुख्यतः संस्कृत कवि जयदेव के 'गीति-गोविन्द' की गीति-शैली में लिखा गया है। पुनरपि, कहीं-कहीं कथा-शैली पर लिखे गये स्थानों से दोहा, चौपाई और चौबोला आदि छन्दों का प्रयोग भी मिलता है। कुण्डलिया, सवैया, दोहा और रोला आदि छन्दों के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। परन्तु इन सब छन्दों का प्रयोग गौण रूप से अत्यल्प मात्रा में ही किया गया है।

अलंकार—कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने भी सचेष्ट अलंकारों की योजना की है। भाव को स्पष्ट करने की दृष्टि से भी स्वाभाविक रूप के अलंकारों का प्रयोग किया गया है, जिनमें भी सादृश्यमूलक अलंकारों की प्रधानता है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि का स्वाभाविक प्रयोग हमें इन कवियों की रचनाओं में प्राप्त होता है।

संगीतात्मकता—कृष्ण शाखा के प्रायः सभी कवि उच्च कोटि के गायक थे और उन्होंने अपने तथ्यों की रचना प्रायः भाव-विभोर होकर गा-गा कर ही की है। अतएव उनके काव्य में प्रभावपूर्ण संगीतात्मकता विद्यमान है। इस विषय में एक किंवदन्ती के अनुसार संगीत-सम्राट तानसेन स्वयं गोविन्दस्वामी के गायन को सुनने आया करते थे। सूरदास, मीरांबाई और हरिदास आदि इसी प्रकार के स्वयं उच्च कोटि के गायक थे। अतएव भावानुकूल भाषा के प्रयोग तथा पदों में उचित गति तथा प्रवाह के माध्यम से काव्य में अभूतपूर्व संगीतात्मकता का रूप इन कवियों के काव्य में देखने को मिलता है। अनेक राग एवं रागनियों का भी सफल एवं सिद्ध रूप इनके काव्य में विद्यमान है।

अन्त में, कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्य-परम्परा का यह साहित्य अपनी रस-परम्परा, गेयता तथा प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से अत्यन्त ही समर्थ है एवं इसमें भाव-विभोर करके पाठक को तल्लीन बनाकर रस-दशा तक पहुँचाने की अद्भुत सामर्थ्य है।

प्रश्न ८—रीतिकालीन काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

हिन्दी साहित्य में रीतिकाल सम्वत् १७०० से १९०० वि० तक माना जाता है। वैसे तो रीतिकाल में भक्ति, वीरता, नीति आदि अन्य विषयों पर

अनेक कवियों ने अपनी रचनाएँ लिखी हैं, पर साधारणतया इस युग के कवियों ने लौकिक शृंगारपरक कविताओं को जन्म दिया। इस युग में शृंगार रसमयी काव्यकृतियों की प्रधानता रही, इसलिए रीतिकाल को शृंगार काल भी कहते हैं। रीतिकालीन साहित्य की सृष्टि सामन्तीय वातावरण में होने के कारण तत्कालीन साहित्य वासनात्मक अधिक रहा। भक्तिकालीन साहित्य सम्बन्धी आदर्श इस युग में समाप्त प्रायः हो गये, सूर तुलसी की तन्मयता, सात्विकता, ऊर्जस्विता एवं उदात्तता इस काल के साहित्य में अनुपलब्ध है। रीतिकालीन कवि की समस्त अन्तश्चेतना सुरा-सुन्दरी की परिधि में ही लीन रही। दरबारी वेश्याओं और रक्षिताओं की छाया को छोड़कर उसकी अन्तश्चेतना अलग नहीं हो सकी। इस युग मे भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा रूप सौन्दर्य की ओर काव्यकारों का ध्यान अधिक रहा।

रीतिकालीन शृंगारी कविता अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं कलात्मक परिस्थितियों से प्रेरणा प्राप्त करके अपने युग की विविध प्रवृत्तियों को अपने अन्तराल में लिए हुए है। इस युग की सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) **शृंगार रस की प्रधानता**—रीति युग में शृंगार रस की प्रधानता है। इस काल के कतिपय कवियों ने वीरता, नीति और भक्ति आदि विषयों को भी अपनाया है, किन्तु अधिकांश कवियों ने शृंगार रस को ही प्रधान रूप से अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। इस काल के अधिकांश कवि दरबारी कवि थे। वे अपने स्वामी की रुचि, उनकी कामुक मनोवृत्ति के अनुसार शृंगारी कविता किया करते थे। काव्य रचना में कवियों की व्यक्तिगत रुचि का कोई भी महत्व नहीं था। भक्तिकाल की राधाकृष्ण विषयक शृंगारी कविता से भी रीतिकाल के कवियों ने प्रेरणा प्राप्त की और राधाकृष्ण के अलौकिक प्रेम को घोर शृंगार में परिणत कर दिया। राधा और कृष्ण अपने अलौकिक रूप को खोकर हमारे सामने सामान्य नायक और नायिका रूप में उपस्थित हुए। रीतिकाल में यद्यपि सभी काव्यांगों का थोड़ा-बहुत निरूपण किया गया और अलंकारों का विवेचन विस्तार के साथ हुआ, फिर भी तत्कालीन कवियों की मनोवृत्ति शृंगार-रस के निरूपण एवं उसके उदाहरण रूप में शृंगारी कविता प्रस्तुत करने में अधिक रही। इस प्रकार शृंगार रस रीतिकाल के कवियों का सर्वाधिक प्रिय विषय बन गया।

(२) आलंकारिकता—रीतिकाल की कविता में भावपक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि इस काल में अनेक कवियों ने रस विवेचन और विशेषकर श्रृंगार रस को अपनाते हुए अनेक ग्रंथों की रचना की फिर भी काव्य की आत्मा के रूप में रस को इस युग में प्रधान स्थान नहीं मिल सका। अधिकांश कवि इस काल के अलंकारवादी थे। उन्होंने काव्य में प्रमुख रूप से अलंकारों को ही स्थान दिया। अनेक कवियों ने भाव या रस की उपेक्षा करके अपना अलंकार-सम्बन्धी पाण्डित्य प्रदर्शन करने की चेष्टा की है। उन्होंने भावाभिव्यक्ति की ओर नहीं, भावाभिव्यक्ति की चमत्कारपूर्ण शैली की ओर विशेष ध्यान दिया। इस काल में भाव-व्यंजना की नहीं, उक्ति-वैचित्र्य की ही प्रधानता रही। अलंकार का निरूपण इस काल के कवियों ने विस्तार के साथ किया और अपने अलंकार ग्रन्थों में अलंकारों के लक्षणों को ध्यान में रख कर अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए। इस प्रकार रीतिकाव्य अलंकारों का एक समृद्ध कोश बन गया। उसका कलापक्ष जितना समृद्ध है, उतना ही भावपक्ष शिथिल। उसमें स्वाभाविकता कम तथा कलात्मकता एवं कृत्रिमता अधिक है।

(३) भक्ति एवं नीति—इस युग में भक्ति एवं नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ यत्र तत्र मिलती हैं। नीति और भक्ति सम्बन्धी सूक्तियाँ शतक-ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। रस ग्रन्थों में भक्ति सम्बन्धी उक्तियों की कमी नहीं है। कदाचित् इस युग की इन उक्तियों के स्रोत ये ही ग्रन्थ हैं। नीति सम्बन्धी उक्तियों के लिए जीवन के जिन घात-प्रतिघातों की आवश्यकता होती है, वह विकासोन्मुख रीतिकवि के पास कहाँ था ? वस्तुतः यह युग अनेक स्वादों से भरा हुआ था और उस समय के कवियों ने अनेक स्वादों से अपने ग्रन्थों को भरना चाहा है और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध मे विहारी का एक वाक्य उदाहरण के योग्य है :—

"करी विहारी सतसई, भरी अनेकन स्वाद।"

इस युग में भक्ति भी उनकी श्रृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधाकृष्ण का वही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरणभूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये उसका आँचल पकड़े हुए थे। अतः भक्ति रस की उपासना करते हुए उसके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते।

सच तो यह है कि नीति और भक्ति उस काल के कवि के जीवन के अवसान और थकान की द्योतक है।

(४) **काव्य रूप**—रीतिकालीन कवियों की काव्य रचना का मुख्य उद्देश्य तत्कालीन राजाओं एवं रईसों की रसिकतामयी वृत्ति को सन्तुष्ट करना था। उस समय के कवि राजदरबारी वातावरण से घिरे हुए थे। ऐसी स्थिति में चमत्कार पैदा करने के लिए तथा अपने लिए प्रशंसा प्राप्त करने के लिए उन कवियों को मुक्तक शैली अधिक अनुकूल पड़ी। ऐसे समय में प्रबन्ध काव्य की रचना उपयुक्त नहीं है; क्योंकि, प्रबन्ध काव्यों के लिए निरन्तर एकरसता और धैर्य की आवश्यकता होती है जो उस समय के कवियों के पास नहीं थी और न श्रोताओं को ही ये गुण उपलब्ध थे।

रीतिकाल मे अधिकतर कवित्त, सवैया और दोहों जैसे छन्दों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि बीच-बीच में छप्पय, बरवै, हरिगीतिका आदि छन्दों का भी प्रयोग देखा जा सकता है। किन्तु रीतिकवियों की वृत्ति अधिकतर दोहा, सवैया और कवित्त में ही रमी है। कारण, ये छन्द ब्रजभाषा की प्रकृति के विशेष अनुकूल पड़ते थे और जिन भावों का वर्णन इसमें किया गया, उनके भी ये उपयुक्त थे। अवधी भाषा का बरवै छन्द भी लालित्य में इनके समान बैठता है, अतः वह भी इस काल में प्रयुक्त हुआ है। रीतिकालीन कवि चमत्कार-प्रिय थे। इन चमत्कारों को प्रदर्शित करने के लिए भी उपयुक्त छन्द अनुकूल थे। दूसरे, रीति-कवियों को ये छंद अपनी पूर्व परम्परा से भी प्राप्त हुए थे। रीतिकाल में शृंगार रस का अधिक उपयोग हुआ। ये छन्द उसकी प्रकृति के भी अनुकूल पड़ते थे। नीति तथा सूक्तियों को भी दोहा जैसे छोटे छन्द में सफलतापूर्वक लिखा जा सकता था और वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए कवित्त तथा सवैया जैसे छन्द बड़े ही सफल सिद्ध हुए।

इस काल में कतिपय प्रबन्ध-काव्य भी मिलते हैं। पर मुक्तक काव्य की तुलना में इनका कोई भी महत्त्व स्थापित नहीं हो पाता।

(५) **ब्रजभाषा की प्रधानता**—ब्रजभाषा इस युग की प्रमुख साहित्यिक भाषा थी। अलंकृति प्रधान युग में भाषा की सजावट तथा शृङ्गार के विषय में कवि को विशेष सतर्कता से काम लेना पड़ता है। भारतीय साहित्य में लालित्य क्षेत्र में संस्कृत भाषा के पश्चात् ब्रजभाषा का स्थान आता है। एक तो यह मध्यदेशीय भाषा थी, दूसरे यह प्रकृति से मधुर थी और कोमल रसों की अभि-

व्यक्ति के लिए इसमें अपार क्षमता थी। वर्णमैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मकता, शब्दगति, अनेकार्थकता, व्यंग्य आदि की विशेषता इस भाषा में मिलती है। यह काल ब्रजभाषा की चरमोन्नति का काल है। इस समय ब्रजभाषा में विशेष निखार, मधुरता एवं प्रांजलता का समावेश हुआ और भाषा में इतनी प्रौढ़ता आई कि भारतेन्दु-काल तक कविता क्षेत्र में इसका एकमात्र आधिपत्य रहा और आगे आने वाले समय में भी इसके प्रति मोह रहा। यह ब्रजभाषा के माधुर्य का परिणाम रहा कि हिन्दी के मुसलमान कवियों तथा बंगाल के वैष्णव भक्त-कवियों ने भी इसका प्रयोग किया।

(६) लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण—रीतियुग के कविकर्म एवं आचार्य-कर्म एक साथ चलते रहे। रीतियुक्त कवियों को छोड़कर प्रायः इस काल के अधिकांश कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण किया। रीतिबद्ध कवियों ने तो सीधे रूप में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए। रीति सिद्ध कवियों ने केवल उदाहरण जुटाये। उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से काव्यांग सम्बन्धी किसी लक्षण को नहीं लिखा, पर उनके सभी उदाहरणों की पृष्ठभूमि में रीतिशास्त्र काम कर रहा था। प्रासंगिक रूप से यह स्मरण करना चाहिए कि ये दोनों कर्म—कविकर्म तथा आचार्य-कर्म परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। कवि के लिए माता की तरह प्रवण हृदय अपेक्षित रहता है, जबकि आचार्य के लिए प्रौढ़ मस्तिष्क सर्वाङ्गपूर्ण सन्तुलित विवेचन शक्ति की अपेक्षा रहती है। रीतियुगीन काव्यकार सर्वप्रथम भावुक हृदय वाला एक कोमल भावनाओं का चितेरा है, आचार्य-कर्म तो उसे परम्परावश निभाना पड़ा। उस युग में कुछ ऐसी परिपाटी चल पड़ी थी कि कोई भी कवि रीति शास्त्रीय ज्ञान के बिना राज-दरबार में आदर का पात्र नहीं बन सकता था। परिणाम यह हुआ कि सभी कवियों ने पांडित्य-प्रदर्शन किया, पर लक्षण ग्रंथों की रचना में इन लोगों की सफलता सन्दिग्ध है।

(७) वीररस—रीतिकाल में प्रायः शान्ति और समृद्धि का समय होते हुए भी क्रूर औरंगजेब के आतंकमय शासन के कारण भारत का शान्त वातावरण विक्षुब्ध हो गया। कट्टर औरंगजेब की असहिष्णुता ने पूर्ववर्ती उदाराशय मुगल-सम्राटों की उदारता का स्थान ले लिया था। उसने हिन्दू जनता पर बड़े बर्बर अत्याचार किए। इसका परिणाम यह हुआ कि युगों से सुप्त वीरात्मक प्रवृत्तियाँ पुनः जागृत हो गईं। दक्षिण में महाराजा शिवाजी, पंजाब में गुरु गोविंद सिंह, राजस्थान में महाराणा राजसिंह और जसवन्तसिंह का सेनापति दुर्गादास

मध्यप्रदेश में छत्रसाल आदि वीर स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए औरंगजेब के समक्ष लोहा लेने के लिए उठ खड़े हुए। अपने आश्रयदाताओं की धमनियों में आनतायियों के विरुद्ध खड़े होकर सबल टक्कर लेने के लिए नवीन रक्त का संचार करने के लिए रीतियुगीन कवियों ने भी वीररस से भरी कविताएँ लिखीं। इस प्रकार शृंगार रस की प्रधान धारा के साथ क्षीण रूप में वीररस की धारा भी इस युग में प्रवहमान रही। यह दो विरोधी रसों का एक विलक्षण सम्मिश्रण है। भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने बड़ी ओजस्वी भाषा में वीर रसात्मक काव्य की रचना की। इन वीररस के कवियों में राष्ट्रीय भाव का प्रखर स्वर गूंज रहा है। कतिपय आलोचक इन कवियों की राष्ट्रीय भावना में जातीयता का दोष मानते हैं। लेकिन हर युग में राष्ट्रीयता के मापदण्ड भिन्न-भिन्न रहे हैं। किसी युग-विशेष की राष्ट्रीयता का निर्धारण तत्कालीन विशेष परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही होता है।

(८) **आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण**—प्रकृति का चित्रण रीतिकाल में आलम्बन के रूप में हुआ है, जो स्वाभाविक है; क्योंकि, रीतिकालीन कवि दरबारी थे। अत: उनके पास प्रकृति के उन्मुक्त एवं स्वच्छन्दतापूर्ण वातावरण में विचरने का अवकाश नहीं था। अतः उनके काव्य ग्रन्थों में कालिदास जैसे संस्कृत महाकवियों का रूप प्रकृति का विम्बग्राही रूप नहीं मिलता। प्रकृति का चित्रण इस युग में नायक और नायिका की मानसिक दशा के अनुकूल ही किया गया है। संयोग में उसका मनोमुग्धकारी उत्फुल्ल रूप है और वियोग में विदग्धकारी रूप। प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण षड्ऋतु और बारहमासा की चित्रण पद्धति पर हुआ है। पावस में प्रेमी-प्रेमिका के मिलन के अवसार पर कवि का मन खूब रमता हुआ सा दिखाई पड़ता है। इन रीतिकालीन कवियों में सेनापति को प्रकृति-चित्रण में काफी सफलता मिली है।

(९) **अभिव्यंजना-पद्धति**—किसी भी युग के साहित्यकार की अभिव्यंजना पद्धति या शैली उसके व्यक्तित्व का द्योतक होती है, जो उसके साहित्य में बहुत ही सहज रूप में समाविष्ट रहती है।

कवि अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए, विशिष्ट शब्दों, मुहावरों विशेषणों तथा लोकोक्तियों का चयन अपनी व्यक्तिगत अभिरुचियों के अनुसार करता है। अतः रीतिकाव्यों की शैलीगत विशेषताओं के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों, मुहावरों, विशेषणों तथा लोकोक्तियों का अध्ययन आवश्यक है।

तत्कालीन कवियों ने अपनी कविता में वातावरण के निर्माण के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों के लिए तीन प्रकारों का प्रयोग किया है—रचनात्मक, अनुकरणात्मक एवं लक्षणात्मक। रीति-कवि द्वारा प्रयुक्त विशेषणों में चित्रोपम सौन्दर्य निहित है। उदाहरणार्थ—नेत्रों के विशेषण 'अनियारे नयन, अहेरी नयन' आदि प्रयुक्त हुए हैं। रीतिकाव्य में आँख, जन और चित्त सम्बन्धी मुहावरे अधिक संख्या में प्रयुक्त हुए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इनका शृंगार और प्रेम से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(१०) नारी-चित्रण—रीतियुग में मुगल-शासन की निरंकुश सत्ता के अधीन देशी रजवाड़ों के राजाओं का तेज विनष्ट प्रायः हो गया था। मुगल दरबार में प्रचुर विलास का अनुकरण करना ही उनके जीवन का उद्देश्य बन गया था। राज्याश्रित कवि नारी के कुचों तथा कटाक्षों के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विलासात्मक रंगीले और भड़कीले चित्र उतार कर अपने स्वामी के गहरे मानसिक विषाद को दूर करने में प्रयत्नशील था। उसके सामने नारी का एक ही रूप था और वह था—विलासिनी प्रेमिका। नारी उसके लिए एकमात्र भोग-विलास का उपकरण मात्र थी। नारी के अन्य रूपों—गृहिणी, जननी, देवी, भगिनी आदि—पर उसकी दृष्टि नहीं पड़ी। वह नारी-शरीर के सौन्दर्य-सरोवर में सतह पर ही गोते खाता रह गया। वह केवल नारी की तनद्युति का ही अनुरागी था। नारी-जीवन के प्रति रीति-कवि के इस संकुचित दृष्टिकोण का दायित्व एक तो उस समय के वातावरण पर है और दूसरा है कामशास्त्रीय ग्रंथों के प्रभाव पर। नायिका-भेद का वर्णन करते हुए रीति कवि ने सर्वत्र रूप के प्रति गहरी आसक्ति प्रदर्शित की है और नायिका होने के लिए किसी स्त्री का सुन्दर होना अपेक्षित था।

(११) जीवन-दर्शन—रीतिकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है—यथार्थ जीवन के प्रति गहरी अभिरुचि। इस काल के कवि का मुख्य उद्देश्य है—जीवन और यौवन के वास्तविक और रमणीय स्वरूप का चित्रण करना। यदि उस चित्रण में कहीं-कहीं आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं, तो परम्परागत संस्कारवश ही ऐसा हो सका है। ऐसा भी हो सकता है कि तत्कालीन कवि ने ऐसा समाज भय से भी किया हो। नायिका-भेद और रस-निरूपण में जो चित्र उपन्यस्त किए गए हैं वे किसी अतीन्द्रिय लोक के नहीं वरन् वे इसी लोक के हैं।